राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी एच. डी. के लिए स्वीकृत

तथा

प्रकाशन-सहायता-प्राप्त थीसिस

संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास

लेखक:—

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा एम. ए., एल एल. बी., पी एच. डी.

प्राध्यापक संस्कृत विभाग

गवर्नमेण्ट कालेज

अजमेर

प्रकाशक:—
ब्रह्मानन्द शर्मा
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
गवर्नमेण्ट कालेज
अजमेर

मुद्रक:
वैदिक यन्त्रालय,

श्रद्धेय गुरुवर

श्री विद्याधरजी शास्त्री

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

परम हर्ष है कि साहित्यक्षेत्र में भारत के मूर्धन्य आचार्यों द्वारा हृदय मे स्वागतीकृत यह शास्त्रीय प्रबन्ध अब एक मुद्रित ग्रन्थ के रूप में सब विद्याकेन्द्रों के लिए सुलभ हो रहा है। यह प्रबन्ध कोई सामान्य प्रबन्ध नहीं अपितु चिन्तनजन्य सूक्ष्म विवेचन से सम्पन्न अलंकारशास्त्रसम्बन्धी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके प्रकाशन से साहित्य-संसार में एक अभिनव साहित्य-दर्शन का अभ्युदय होगा और अमरभारती के प्राचीन महाचार्यों की सूक्ष्म प्रतिपादन शैली एवं उनकी अगाध विवेचन शक्ति के ज्ञान से वर्तमान हिन्दी क्षेत्र सर्वथा सुसमृद्ध एवं कृतार्थ होगा।

आचार्य श्री ब्रह्मानन्द की यह विशेषता है कि वे पूर्वाचार्यों के मतों की आलोचना में अनेक स्थलों पर अपने स्वतन्त्र विवेचन को प्रस्तुत करते हैं और अपनी सूक्ष्मेक्षिका के कारण गतानुगतिक गति के अनुगामी न बनकर महान् से महान् आचार्यों की आलोचना में भी किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं देखते। यह ठीक है कि स्थान स्थान पर पूर्वाचार्यों ने भी इन मतों की स्थापना के प्रसंगों को उठाया है परन्तु इतना विशाल और व्यापक विवेचन सामान्यतया अन्यत्र सुलभ नहीं होता।

मेरा यह दृढ विश्वास है कि अलंकारशास्त्र की ग्रन्थसूची में यह ग्रन्थ सम्माननीय स्थान प्राप्त करेगा और अलंकारों के आन्तरिक तत्त्व को समझने में परम सहायक सिद्ध होगा। विद्वत्संसार में इसके द्वारा अलंकारसम्बन्धी आलोचना के एक नए अध्याय का सूत्रपात होगा और पारस्परिक विमर्श के द्वारा अलंकारशास्त्र का और भी अधिकाधिक सद्विकास होगा।

विद्याधर शास्त्री
डायरेक्टर हिन्दी विश्वभारती
बीकानेर

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि प्रधानतया सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विवेचन है। परन्तु क्योंकि ये सादृश्यमूलक अलङ्कार सादृश्य तत्त्व पर आश्रित हैं, अतः इनके विवेचन से पूर्व सादृश्य तत्त्व के स्वरूप तथा क्षेत्र का भी इसमें विवेचन किया गया है। सादृश्यतत्त्व-निरूपण के प्रसंग में मैं ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सादृश्य समस्त कलाओं, लौकिक व्यवहारों एवं प्राकृतिक जगत् में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। साहित्य का ललित कलाओं में प्रमुख स्थान है। इसलिए कला-सम्बन्धी सादृश्य के विवेचन में साहित्यसम्बन्धी सादृश्य का विवेचन विशेष रूप से किया गया है। ललितकलाशिरोमणि इस साहित्य का क्या स्वरूप है इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों ने औचित्य, रस, ध्वनि आदि को उसका स्वरूप माना है। मैं ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि साहित्य के ये विभिन्न स्वरूप इस सादृश्य तत्त्व से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं।

अलङ्कारों की सादृश्यमूलकता के विवेचन के समय इस सादृश्य-मूलकता की गहराई में जाने के लिए अलङ्कारों के अन्वय-व्यतिरेकभाव एवं आश्रयाश्रयिभाव आदि अलङ्कारस्वरूपनिर्णयकारी अभिमतों का भी इसमें पूर्ण विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दालंकारों के मूल में उच्चारण-सादृश्य स्थित है। इस उच्चारण-सादृश्य के अतिरिक्त शब्दालंकारों के लिए एक और तत्त्व की अपेक्षा है और वह है वर्णों तथा अर्थ का सादृश्य। इस प्रकार अर्थानुकूलता शब्दा-लंकारों का आवश्यक अंग है। ध्वनिवादियों का इससे विरोध है। वे अलङ्कारों को हारादि के समान बाह्य आभूषण मानकर उन्हें अर्थ का नियत रूप से उपकारक नहीं मानते। अतः इस प्रसंग में उनके इस मत का खण्डन किया है।

शब्दालङ्कारों की सादृश्यमूलकता का निरूपण करते समय प्रसंगवश उनके अन्य विशेषाधायक हेतुओं का भी विवेचन किया है। उदाहरणतः यमक का निरूपण करते समय रुय्यक तथा मम्मटादि के मत का खण्डन

करते हुए चमत्कारी अर्थ-वैषम्य को यमक का आवश्यक अंग सिद्ध किया है।

लाटानुप्रास के प्रकरण में अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का निरूपण करके यह बताया है कि पूर्व मत के अनुसार ही लाटानुप्रास का पृथक् अलंकार होना सम्भव है। इसके बाद इन दोनों वादों में अभिहितान्वयवाद की समीचीनता सिद्ध करके लाटानुप्रास को पृथक् मानने का औचित्य सिद्ध किया है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन उनके मूल में विद्यमान सादृश्यसम्बन्धी चित्तवृत्ति के आधार पर किया है। इस चित्तवृत्ति के भेद को ही अलङ्कार-विभाजन का आधार माना है। चित्तवृत्ति में भेद न होने पर भाषा के साधारण अन्तर को अलंकार-विभाजन का हेतु नहीं माना है। इसी दृष्टि से रुय्यक तथा विद्यानाथ के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए इन अलङ्कारों के वर्गीकरण का प्रयास किया है।

उपर्युक्त दृष्टि से विवेचन के फलस्वरूप अन्य आलङ्कारिकों के अनेक सादृश्यमूलक अलङ्कार अथवा उनके भेद इस श्रेणी से बाहिर चले जाते हैं। कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारों अथवा उनके भेदों का अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है तथा कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारों के पृथक् भेदों की पृथक्ता नष्ट हो जाती है। उदाहरणतः उल्लेख के शुद्ध भेद, कारक दीपक, मालादीपक, प्रस्तुतांकुर, तथा रुद्रट के उत्तर अर्थान्तरन्यास आक्षेप प्रत्यनीक एवं पूर्व का सादृश्य-मूलक अलंकारों से वहिर्भाव हो जाता है। शब्दश्लेष पर आश्रित उपमा तथा रूपक आदि के भेद भी सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत नहीं आते।

उदाहरणालङ्कार का अन्तर्भाव उपमा में हो जाता है। प्रतीप के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेद उपमा में तथा चतुर्थ एवं पञ्चम भेद व्यतिरेक के अन्तर्गत चले जाते हैं। परिणाम, निदर्शना तथा ललित का अन्तर्भाव रूपक में हो जाता है। संकीर्ण उल्लेख विभिन्न सादृश्यमूलक अलंकारों में अन्तर्भूत हो जाता है। निश्चयालंकार तथा अतिशयोक्ति के 'अभेदे भेदः' एवं 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' भेद क्रमशः भ्रान्तिमान्, असम एवं उपमा में सन्निविष्ट हो जाते हैं। रुद्रट के मत, उभयन्यास, समुच्चय तथा साम्य क्रमशः उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा दीपक एवं उपमा के अन्तर्गत चले

जाते हैं। दीक्षित की पर्यस्तापह्नुति तथा भ्रान्तापह्नुति का अन्तर्भाव क्रमशः दृढारोपरूपक एवं भ्रान्तिमान् में हो जाता है।

अतिशयोक्ति के 'असम्बन्धे सम्बन्धः' तथा 'कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययः' नामक भेदों, परम्परितोपमा, परिम्परितरूपक एवं व्याकरणमूलक उपमाप्रभेदों की पृथक्ता नष्ट हो जाती है।

अलङ्कारनिरूपण के समय आलङ्कारिकों के परस्पर-विरोधी मतों का विवेचन करके उनमें से किसी एक की समीचीनता सिद्ध की है अथवा दोनों मतों के असमीचीन प्रतीत होने पर अपना स्वतन्त्र मत उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः व्यतिरेक में वैधर्म्यप्रतीति के स्वरूप के विषय में आलङ्कारिकों मे मतभेद है। मम्मट तथा जगन्नाथ के अनुसार यह वैधर्म्य-प्रतीति उपमेय के उत्कर्ष के रूप में होती है तथा रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार यह उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष इन दोनों मे से किसी भी रूप में सम्भव है। इस प्रसंग में उत्कर्षापकर्ष का अर्थ स्थिर करके रुय्यक एवं विश्वनाथ आदि के मत की स्थापना की है।

रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति की प्रक्रिया के विषय में प्राचीन तथा नवीन आलंकारिकों में मतभेद है। प्राचीनों के अनुसार यह प्रक्रिया लक्षणा के द्वारा होती है तथा नवीनों के अनुसार यह अभेदसंसर्ग से होती है। अतः दोनों मतों का विवेचन करके नवीनों के मत का औचित्य स्थापित किया है।

उत्प्रेक्षा में विषयोपादान आवश्यक है अथवा नहीं, इस विषय को लेकर आलंकारिकों में मतभेद है। रुय्यक के अनुसार विषय का उपादान आवश्यक है, परन्तु मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार इसका उपादान आवश्यक नहीं। इस प्रसंग में दोनों मतों का विवेचन करके द्वितीय मत की समीचीनता सिद्ध की है।

सम्भावना केवल अभेदसंसर्ग के द्वारा होती है अथवा समवायादि अन्य सम्बन्धों के द्वारा भी वह सम्भव है इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य आलंकारिकों में मतभेद है। प्राचीन प्रथम मत के पक्षपाती हैं तथा नव्य द्वितीय मत के। इस प्रसंग में दोनों मतों का विवेचन करके द्वितीय मत को असमीचीन सिद्ध किया है।

पृथक् पृथक् अलंकारों का निरूपण करते समय उस अलंकारविशेष

के मूल में विद्यमान सादृश्यविषयक चित्तवृत्ति का स्वरूप निश्चित किया है तथा अलंकारों की परिभाषा एवं भेदोपभेद सादृश्यतत्त्व को लक्ष्य करके किए हैं।

सादृश्य के आधार पर अलंकारों का उपर्युक्त विवेचन करते हुए अलंकारों के विकास का भी विवेचन किया है।

रस, ध्वनि, औचित्य, अलंकारादि साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में सादृश्यतत्त्व के इस प्रकार लक्षित होने के कारण यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि सादृश्यतत्त्व की इस व्यापकता का क्या कारण है। अतः विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से यह सिद्ध किया है कि विश्व के पदार्थों में एक साम्य है।

मैं अपने प्रयास में कहां तक सफल हुआ हूं तथा प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानक्षेत्र की अभिवृद्धि में कहां तक योग देगा इसका निर्णय विद्वान् ही करेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ राजस्थान विश्वविद्यालय ने आर्थिक सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया है। इसके लिए मैं उसका अत्यन्त आभारी हूं। मैं अपने गुरुवर श्रद्धेय श्री विद्याधर जी शास्त्री का अत्यन्त आभारी हूं जिनकी प्रखर ज्ञानज्योति अलंकारशास्त्र तथा दर्शन के दुर्गम क्षेत्र में मेरा सतत मार्गदर्शन कर रही थी। श्री नरोत्तमदास जी स्वामी तथा प्रो० फतहसिंह जी का भी मैं आभारी हूं जिनसे मुझे परामर्श मिलता रहता था। अन्त में मैं भारत के उन प्राचीन एवं महान् आलंकारिकों का अत्यन्त आभारी हूं जिनके विचारों से लाभ उठाकर एवं प्रेरणा प्राप्त कर मैं यह ग्रन्थ विद्वानों के सम्मुख रखने में समर्थ हुआ हूं।

ब्रह्मानन्द शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

चतुर्थ अध्याय

प्रथम अध्याय

सादृश्य-निरूपण की आवश्यकता

सादृश्यमूलक अलङ्कारों के विवेचन के लिए यह परम आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम सादृश्य के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझ लें तथा उसके क्षेत्र पर विचार कर लें।

सादृश्य

सादृश्य की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है:—

"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्"—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ५४२

इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओं में धर्म अथवा धर्मों की साधारणता के आधार पर सादृश्य होता है। उदाहरण के लिए मुख तथा चन्द्र को लें तो उनके सादृश्य को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

"चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वम् मुखे चन्द्रसादृश्यम्"।

यहां मुख तथा चन्द्र भिन्न हैं, परन्तु आह्लादकता उन दोनों में साधारणधर्म के रूप में विद्यमान है। अतः इन दोनों में सादृश्य है। इस प्रकार सादृश्य में दो वस्तुएं होती हैं—भेद तथा धर्मों की साधारणता। धर्मों की साधारणता को हम अभेद कह सकते हैं। इस प्रकार सादृश्य में भेद तथा अभेद दोनों होते हैं। अभेद जिस प्रकार धर्मों के रूप में होता है, उस प्रकार भेद भी धर्मों के रूप में ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं की सत्ता धर्मों के रूप में होती है। अतः उनका भेद उनमें विद्यमान धर्मों के रूप में ही सम्भव है। इस प्रकार सादृश्य में कुछ धर्म साधारण होते हैं तथा कुछ धर्म असाधारण होते है। धर्मों की साधारणता से सामान्य तत्त्व बनता है तथा उनकी असाधारणता से विशेष तत्त्व बनता है। सादृश्य में सामान्य तथा विशेष ये दोनों तत्त्व होते हैं। निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः"—
सर्वस्व पृ० २४

सामान्य तत्त्व का दूसरा नाम साधर्म्य है तथा विशेष तत्त्व का दूसरा

नाम वैधर्म्य है। अतः साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से सादृश्य का जन्म होता है।

नैयायिकों ने उपमान प्रमाण के प्रकरण में सादृश्य का विवेचन किया है। इनके अनुसार "गौरिव गवयः"[1] सादृश्य का प्रसिद्ध उदाहरण है।

यहां गौ तथा गवय में कुछ धर्मों के कारण साधर्म्य है तथा कुछ के कारण वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से यहां सादृश्य है।

सादृश्य के लिए जो साधर्म्य अपेक्षित है उस में धर्मों की संख्या का कोई विधान नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि इस साधर्म्य का क्षेत्र इतना विस्तृत न होना चाहिए कि वह वस्तुओं के समस्त धर्मों को अपने अन्तर्गत कर ले, क्योंकि इस दशा में कोई ऐसा धर्म न रह जाएगा जिसके आधार पर वैधर्म्य हो सके। वैधर्म्य तत्त्व का सर्वथा लोप होने के कारण वह सादृश्य भी सम्भव नहीं जिसके लिए साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य तत्त्व की भी अपेक्षा है। वैधर्म्य तत्त्व से रहित इस अवस्था को हम ताद्रूप्य कहेंगे। ताद्रूप्य साधर्म्य की परम विस्तृत अवस्था होती है। इस अवस्था में वस्तुओं के समस्त धर्म साधर्म्य की परिधि में आ जाते हैं। "मुखं कमलमस्ति" में यही बात है। यहां मुख कमल के तद्रूप है। तद्रूप के लिए भी प्रायः समान शब्द का प्रयोग होता है।

द्रव्यों के सादृश्य से गुणादि के सादृश्य में अन्तर है। द्रव्य की परिभाषा 'गुणवद् द्रव्यम्'[2] की गई है। अतः द्रव्यों में तो उनमें विद्यमान गुणों की साधारणता के आधार पर सादृश्य सम्भव है। गुणों में यह बात नहीं होती। गुणों में गुणों की सत्ता नहीं होती जिनके आधार पर उनका सादृश्य हो। अतः गुणों का सादृश्य गुण-साधारणता के आधार पर न होकर तारतम्य अथवा मात्राभेद के आधार पर होता है। उदाहरणतः दो वस्तुओं के वर्णों का सादृश्य उन वर्णों के तारतम्य के आधार पर होता

---

१. तथा हि गवयमजानन्नपि नागरिको यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकपुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात्" तर्कभाषा पृ० ४७

२. "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"—वैशेषिक दर्शन—१।१५

है। यदि वे वस्तुएं श्वेत हैं तो उनमें से एक में अन्य की अपेक्षा श्वेत वर्ण की अधिकता होगी। इस प्रकार उन दोनों श्वेत वर्णों में तारतम्य के कारण वैधर्म्य होगा और फलतः उनमें सादृश्य होगा। गुणों के इस तारतम्य को गुणसम्मिश्रण का परिणाम कहा जा सकता है। दो श्वेत वर्णों में से एक में अन्य की अपेक्षा जो न्यूनता होती है वह उसमें कृष्ण गुण के किञ्चित् सम्मिश्रण के फलस्वरूप होती है। यह भी सम्भव है कि इन दोनों वर्णों में कृष्ण गुण का सम्मिश्रण हो। इस दशा में उनमें तारतम्य का कारण उनमें मिश्रित कृष्ण गुणों का तारताम्य होगा। इसी प्रकार दो मधुर रसों में सादृश्य उनमें विद्यमान माधुर्य तथा इस माधुर्य के मात्राभेद के फलस्वरूप होता है।

नव्य नैयायिक सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इनके अनुसार सादृश्य तथा साधर्म्य एक ही वस्तु हैं। अतः सादृश्य को पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं। निम्न लिखित उक्ति इसकी समर्थक है—

नव्यतार्किकास्तु सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वेऽष्टमपदार्थापत्त्या 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः' सप्तैव पदार्थाः इति स्वसिद्धान्तहानिं मन्यमानाः "सादृश्यं न पदार्थान्तरं किन्तु साधर्म्यं सादृश्यञ्चैकमेवेति ......" वदन्ति काव्य प्रकाश टीका पृ० ५४२।

सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होगा कि नव्यतार्किकों का उपर्युक्त मत उचित नहीं। साधर्म्य में केवल अवयवसामान्य का ध्यान रखा जाता है परन्तु सादृश्य में इसके अतिरिक्त अवयवविशेष का भी ध्यान रखा जाता है। प्रथम में केवल साधारणता की प्रतीति होती है परन्तु द्वितीय में इसके साथ साथ असाधारणता की भी प्रतीति होती है। अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

सादृश्य में हमारी दृष्टि एक वस्तु के दूसरी वस्तु से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। साधर्म्य में यह दोनों वस्तुओं के एक धर्म से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार सादृश्य में उपमेय अनुयोगी होता है तथा उपमान प्रतियोगी होता है। साधर्म्य में उपमेय तथा उपमान दोनों अनुयोगी होते हैं तथा साधारणधर्म प्रतियोगी होता है। वामनाचार्य की निम्न लिखित उक्ति का यही आशय है:—

"तथा चात्र साधर्म्याख्यसम्बन्धस्य.........साधारणधर्मः प्रतियोगी उपमानमुपमेयश्चेति द्वावप्यनुयोगिनौ ।.........सादृश्यस्य प्रतियोगी उपमानम् अनुयोगी उपमेयम् । बालबोधिनी पृ० ५४१

सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न न मानने वाले इसके विरुद्ध कहते हैं कि साधर्म्य में भी सम्बन्ध उपमेय का उपमान से होता है, उपमेय तथा उपमान का सम्बन्ध साधारणधर्म से नहीं होता। इसके समर्थन में इन विद्वानों ने अनेक युक्तियां दी हैं। इन विद्वानों का यह मत भी सादृश्य तथा साधर्म्य को एक सिद्ध कर सके ऐसी बात नहीं। वस्तुतः मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि सादृश्य तथा साधर्म्य में सम्बन्धों का प्रकार क्या है अपितु प्रश्न यह है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप क्या हैं। सादृश्य के स्वरूप का कुछ विवेचन हो चुका है। अतः अब साधर्म्य को भली भांति समझना आवश्यक है। वामनाचार्य ने मम्मट के शब्दों की व्याख्या करते हुए साधर्म्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—

"समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः (अर्थादुपमानोपमेययोः) तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम् ।"—बालबोधिनी पृ० ५४०

इसे स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। इस पंक्ति के ठीक बाद वामनाचार्य कहते हैं—

"उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सह सम्बन्ध इत्यर्थः।"—बालबोधिनी पृ० ५४१। यहां "सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) इति पाणिनिसूत्रेण तृतीयेयम्" ऐसा कहकर वे 'समानेन धर्मेण सह' का अर्थ समान धर्म के साथ लेते हैं। सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानों का इससे मतभेद है। वैसे 'उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सम्बन्धः' को तो ये भी स्वीकार करते हैं। और स्वयं मम्मट ने भी इन शब्दों का उल्लेख किया है।[1] परन्तु 'समानेन धर्मेण' का अर्थ ये विद्वान् 'समान धर्म के साथ' न लेकर 'समान धर्म के कारण' लेते हैं।[2] हम परिभाषा के इस विवादग्रस्त

१. "उपमानोपमेययोरेव—साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।"—काव्य प्रकाश पृष्ठ ५४४

2. They understand Mammata's Words उपमानोपमेययोरेव......साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा in the sense that Upama is the relation of connection (संबंध)

अंश को छोड़कर शेष अंश को लेकर चलते हैं जिसके सम्बन्ध में किसी को मतभेद न होना चाहिए। इस अंश के अनुसार साधर्म्य का अर्थ होता है—दो वस्तुओं में समान[1] अथवा साधारण धर्म का होना।

सादृश्य तथा साधर्म्य की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के द्वारा उपस्थित चित्रों में भेद है। सादृश्य का चित्र साधर्म्य की अपेक्षा विस्तृत है। साधर्म्य में हमें वस्तुओं में केवल साधारणधर्म दिखाई देते हैं। परन्तु सादृश्य में इन साधारणधर्मों के अतिरिक्त अन्य धर्म भी मिले रहते हैं। इस प्रकार सादृश्य में वस्तुओं का एक सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र होता है। हम जब दो वस्तुओं को देखते हैं तब सर्वप्रथम कोई साधारणधर्म हमें उन वस्तुओं में दिखाई देता है। हम देखते हैं कि प्रथम वस्तु में यह धर्म है तथा द्वितीय में भी यह धर्म है। यह साधर्म्य का चित्र हुआ। इसके बाद उस धर्म से युक्त दोनों वस्तुओं का सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र हमारे सामने आता है। इस दशा में उस धर्म का पृथक् ज्ञान नहीं होता अपितु वस्तुओं के अन्य गुणों के साथ वह घुला मिला होता है। इन घुले मिले चित्रों में हमें सादृश्य दिखाई देता है। यह सादृश्य का चित्र हुआ। "गौरिव गवयः" सादृश्य के इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यहां प्रथम हमें गौ तथा गवय के कतिपय

Which exists between उपमान and उपमेय (only) and is brought out through a property—common to both. They understand the instrumental in 'समानेन धर्मेण' in the sense of 'Karana' 'by means of'—'through' and not of 'Saharcha'—'accompanying with'. That is why some authors use such expressions as 'धर्मतः सादृश्यम्' or साम्यम्।

Journal of the University of Bombay, September, 57. Vol XXVI (New series) Part 2, Arts No. 32 Page—144.

१. समानेनेति—एकत्वबुद्धिविषयेणेत्यर्थः—उद्योत । साधर्म्यपदं हि योगेनैकधर्मवत्त्वमात्रबोधकम्-प्रभा। इन व्याख्याओं के अनुसार इस समान का अर्थ एक अथवा साधारण निकलता है।

साधारण अवयव दिखाई देते हैं। इसके बाद गौ तथा गवय के सामूहिक चित्र हमारे सामने आते हैं जिनमें साधारणधर्म पृथक् रूप से प्रतीत न होकर अन्य धर्मों से घुले मिले रहते हैं।

'गौरिव गवयः' के उपर्युक्त उदाहरण में सादृश्य का चित्र नेत्रेन्द्रिय का विषय है। कभी कभी सादृश्य का चित्र नेत्र का विषय न होकर अन्य इन्द्रियों में से किसी एक का विषय होता है। सदृश वस्तुओं का स्वरूप जिस इन्द्रिय का विषय होता है अथवा वस्तुओं का सादृश्याधायक साधारणधर्म जिस इन्द्रिय का विषय होता है उन वस्तुओं का सादृश्य भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है। उदाहरणतः जब किसी की वाणी को कोकिल की वाणी के समान कहा जाता है तब सादृश्य कर्ण का विषय होता है। इसका कारण यह है कि वाणी कर्ण का विषय है। अतः इसका सादृश्यसम्बन्धी चित्र इसी इन्द्रिय का विषय हो सकता है। सादृश्य की अवस्था में इन वाणियों के जो चित्र हमारे सम्मुख आते हैं उनमें साधारण-धर्म माधुर्य भी जुड़ा रहता है। जब भुजाओं को वज्र के समान कहा जाता है तब सादृश्य त्वगिन्द्रिय का विषय होता है। यहां भुजाएं तथा वज्र यद्यपि नेत्र के विषय हो सकते हैं, परन्तु इनमें सादृश्य कठोरता आदि में से जिस किसी धर्म को लक्ष्य करके दिखाया गया है वह त्वगिन्द्रिय का विषय है। अतः सादृश्य के समय इनके त्वगिन्द्रियगम्य चित्र ही हमारे सम्मुख आते हैं। सादृश्य का चित्र किसी इन्द्रिय का विषय हो यह निश्चित है कि यह चित्र साधर्म्य के चित्र से कुछ भिन्न अवश्य होता है।

विरोधी प्रश्न कर सकते हैं कि सादृश्य के उपर्युक्त उदाहरणों में साधारणधर्म का उपादान नहीं। अतः ऐसी दशा में सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में आंशिक भेद हो सकता है। परन्तु जहां साधारणधर्म का उपादान होगा वहां इन चित्रों में भेद किस प्रकार सम्भव है। उदाहरणतः 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' इस उदाहरण में 'सुन्दरम्' शब्द का उपादान है। अतः सादृश्य के समय मुख तथा कमल के सौन्दर्यसम्बन्धी चित्र हमारे सामने आएंगे। इनका सादृश्य इनके सौन्दर्य के रूप में होगा और इनका साधर्म्य भी इसी सौन्दर्य के रूप में है। अतः यहां सादृश्य तथा साधर्म्य में अन्तर प्रतीत नहीं होता।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि उपर्युक्त दशा में मुख तथा कमल के जो सौन्दर्य-सम्बन्धी चित्र हमारे सामने आते हैं उनमें कुछ अन्तर

अवश्य है। सौन्दर्यों में सामान्य तत्त्व के साथ विशेष तत्त्व भी मिला रहता है। मुख तथा कमल के सौन्दर्य एक अथवा सर्वथा समान न होकर केवल सजातीय हैं। इस प्रकार यहां सौन्दर्य-सामान्य की दृष्टि से साधारणता है, परन्तु सौन्दर्य के प्रकार की दृष्टि से भेद है। इस प्रकार यहां सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में अन्तर अवश्य है।

विरोधी प्रश्न कर सकते हैं कि मुख तथा कमल के सौन्दर्यों में वस्तुतः भेद भले ही हो कवि तथा पाठक को अपनी कल्पनास्थिति में इस भेद की प्रतीति नहीं होती। उन्हें एक अथवा सर्वथा समान सौन्दर्य मुख तथा कमल में दिखाई देता है। अतः कवि तथा पाठक के सम्मुख उपस्थित सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में उन्हें भेद लक्षित नहीं होता। विरोधी का यह कथन सर्वथा उचित है। ऐसी दशा में सादृश्य तथा साधर्म्य की सीमारेखाएं मिलती सी प्रतीत होती हैं। परन्तु इससे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि सादृश्य तथा साधर्म्य में सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद है।

साधर्म्य सादृश्य का कारण अवश्य है, परन्तु साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति सादृश्य-ज्ञान की स्थिति से भिन्न है। सादृश्य-ज्ञान की स्थिति साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति के बाद होती है। इसमें साधर्म्य-ज्ञान के अतिरिक्त वैधर्म्य-ज्ञान की प्रतीति होती है।

अनेक अलंकारों में सादृश्य वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। रूपकादि अलंकारों में यही बात है। यदि सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त न माना जाए तो साधारणधर्म के उपादान की दशा में इन अलंकारों के सादृश्य का व्यंग्यत्व असमीचीन सिद्ध हो जाता है। इन अलंकारों में अनेक बार साधारणधर्म का तो निर्देश होता है, परन्तु सादृश्य फिर भी व्यंग्य माना जाता है। यह सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने की अवस्था में सम्भव नहीं। क्योंकि जहां साधारणधर्म का निर्देश होगा वहां साधर्म्य वाच्य होगा और यदि सादृश्य तथा साधर्म्य को एक माना जाता है तो सादृश्य भी वहां वाच्य होना चाहिए। परन्तु उपर्युक्त अलंकारों में यह बात नहीं होती। **अतः सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न मानना ही उचित होगा। विश्वेश्वर का यही मत है—**

"अत्र सर्वत्र सादृश्यं व्यंग्यमिति सिद्धान्तः। एवं च सादृश्यं पदार्थान्तर-मेवालंकारिकाभिमतम्। अन्यथा धर्मस्योपादाने तदात्मकत्वे च सादृश्यस्य व्यंग्यत्वानुपपत्तिरिति केचित्।" अलंकार कौस्तुभ पृ० २९६

प्रश्न उठ सकता है कि यदि सादृश्य साधर्म्य से भिन्न है तथा साधर्म्य सादृश्य का कारण है तो अलंकारों को साधर्म्यमूलक न कहकर सादृश्यमूलक क्यों कहा गया। इसका उत्तर यह हो सकता है कि काव्य में प्रधानतया वस्तुओं का सामूहिक तथा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है, वस्तुओं के एक आध धर्म का नहीं। सादृश्य का इस प्रकार के चित्र से निकट सम्बन्ध है। अतः अलंकारों को सादृश्यमूलक कहा गया है।

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन मान्य आलंकारिकों का इस विषय में क्या मत है। इन आलंकारिकों ने न तो सादृश्य तथा साधर्म्य में से किसी की परिभाषा की है और न ही इनके भेद अथवा अभेद का कहीं स्पष्ट उल्लेख किया है। इन लोगों ने केवल अपनी उपमा की परिभाषाओं में सादृश्य तथा साधर्म्य में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आलंकारिक सादृश्य शब्द का प्रयोग करते हैं तथा कुछ साधर्म्य का।[1] इस पर डा० वी० एम० कुलकर्णी कहते हैं कि प्राचीन आलंकारिक सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानते थे।[2] डा० कुलकर्णी के इस अनुमान

---

१. भरत, दण्डी, वाग्भट, अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द) जगन्नाथ आदि ने सादृश्य शब्द का प्रयोग किया है तथा उद्भट मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र अप्पयदीक्षित (चित्रमीमांसा) विद्याभूषण आदि ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।

२. Chronologically speaking this discussion of the distinction between साधर्म्य and सादृश्य is of very late origin and the early alankarikas were not aware of any such distinction as is clear from their use of the words सादृश्य, साम्य and साधर्म्य as synonyms. It is उद्भट who first uses the word साधर्म्य instead of सादृश्य employed by his eminent predecessors भरत, भामह and दण्डिन्. If he had in mind the supposed distinction he would have definitely expressed it in his वृत्ति. Even Mammata who borrows that word from उद्भट nowhere gives any clue to assume any such distinction. On the contrary he employes the words साधर्म्य, साम्य, सादृश्य synonymously. It simply means by usage the words साम्य, सादृश्य, साधर्म्य,

के लिए पर्याप्त आधार नहीं। हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधर्म्य सादृश्य का कारण है तथा साधर्म्य तथा वैधर्म्य के सम्मिश्रण से बने हुए सादृश्य में उस के एक प्रमुख तत्त्व के रूप में यह साधर्म्य वहां रहता ही है। अतः सादृश्य तथा साधर्म्य को भिन्न मानने की अवस्था में भी यह सम्भव है कि कुछ आलंकारिक उपमा में सादृश्य शब्द का सन्निवेश करें तो कुछ साधर्म्य का। दूसरे साधर्म्य शब्द का सन्निवेश करने वाले अनेक मान्य आलंकारिकों ने परिभाषा में भेद शब्द का उल्लेख किया है। उद्भट में तो इस ओर केवल संकेतमात्र है।[1] परन्तु मम्मट तथा रुय्यक[2] में इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'[3] उपमा की इस परिभाषा में मम्मट ने भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। यहां कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि यहां भेद का सन्निवेश उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करने के लिए है। और यह बात मम्मट ने स्वयं कही है:—

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय'—काव्य प्रकाश पृ० ५४६। ठीक है भेद शब्द उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करता है। परन्तु इसके साथ ही साथ उपमा की परिभाषा में इसका स्पष्ट उल्लेख भेदप्रतीति को उपमा के स्वरूप का आवश्यक अंग भी बना देता है। इस प्रकार उपमा में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रतीत होते हैं।

औपम्य, were treated as synonymous. We cannot lightly set aside the usage of the best alankarikas.

Journal of the University of Bombay, September, XXXVI (New series) Part 2, Art No. 32 1957

१. "यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।

मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्।"—अलंकारसारसंग्रह

इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओं का साधर्म्य उपमा है। यहां वस्तुओं के भिन्न होने के कारण उनमें साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य की प्रतीति होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। इस प्रकार उपमा में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों की प्रतीति होगी। यह प्रतीति सादृश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

२. 'उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।'—अलंकार सर्वस्व यहां परिभाषा में अभेद के साथ साथ भेद का भी सन्निवेश है। अतः उपमा में साधर्म्य के साथ वैधर्म्य की भी प्रतीति होती है।

३. काव्य प्रकाश १०—१२५

मम्मट ने इन साधर्म्य तथा तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग कतिपय ऐसे स्थलों पर भी किया है जिनको देखकर सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वान् कह सकते हैं कि ये स्थल इस बात के प्रमाण हैं कि मम्मट को साधर्म्य तथा सादृश्य पर्यायवाची शब्दों के रूप में अभिप्रेत हैं। परन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत उतने ही औचित्य के साथ कह सकते हैं कि ये स्थल साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानने की अवस्था में भी पूर्णतः ठीक बैठते हैं। मेरे विचार से ये स्थल स्वतः दोनों में से किसी मत के निर्णायक नहीं कहे जा सकते। ये स्थल इस प्रकार हैं:—

"असादृश्यासंभवावप्युपमायाम् अनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः।

यथा—'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्।'

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानाँ च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम्।" काव्य प्रकाश पृ० ७८३

सादृश्य तथा साधर्म्य की एकता के समर्थक कहते हैं कि उपर्युक्त श्लोक उपमा में असादृश्य दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इस श्लोक में मम्मट यह दिखाना चाहते हैं कि यहां वस्तुओं में सादृश्य नहीं है। श्लोक की व्याख्या में मम्मट कहते हैं कि यहां काव्य का शशी से तथा अर्थों का रश्मि से कोई साधर्म्य नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि मम्मट सादृश्यतथा साधर्म्य को पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण करते हैं। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उपर्युक्त निष्कर्ष आवश्यक नहीं। यह तो ठीक है कि मम्मट यहां असादृश्य दिखाना चाहते हैं। परन्तु असादृश्य का ज्ञान तभी हो सकता है जब हमें साधर्म्य न दिखाई दे। अतः असादृश्य दिखाने के लिए यह आवश्यक है कि सादृश्य के कारणभूत साधर्म्य का अभाव दिखाया जाए और यही बात यहां दिखाई गई है। इसीलिए वामनाचार्य कहते हैं:—

"एवं च काव्यशशिनोरर्थरश्म्योश्च साधर्म्यस्यैवाभावेन साधर्म्यप्रयोज्यस्य सादृश्यस्य सुतरामभावः—।" बालबोधिनी पृ० ७८३

दूसरा स्थल इस प्रकार है:—

'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दो

काव्य प्रकाश पृ० ५५२

यहां भी तुल्यता आदि तथा साधर्म्य को एक मानना आवश्यक नहीं। यहां यह कहा गया है कि जब तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब उन दो वस्तुओं में तुल्यता बताई जाती है। परन्तु वस्तुओं को तुल्य कहने से ही हमें उनकी तुल्यता का ज्ञान नहीं होता। हमें तुल्यता का ज्ञान तभी होता है जब हम साम्य पर विचार करते हैं। साम्य पर विचार करने से तुल्यता के मूल में स्थित इस साधर्म्य का ज्ञान हमें हो जाता है। इस प्रकार साधर्म्य यहाँ अर्थगम्य होता है। इसीलिए वामनचार्य कहते हैं:—

इत्यत्रोभयत्रापि सामान्यतः सादृश्यं बोधयित्वा विरतव्यापारेषु तुल्य-सदृशादिशब्देषु धर्मविशेषं विना कथमनयोः सादृश्यमिति सादृश्यस्य (तुल्यादिशब्देनाभिहितस्य) अनुपपत्त्या धर्मविशेषसम्बन्धप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वादुपमाया आर्थत्वमिति।" —बालबोधिनी पृ० ५५२।

मम्मट आदि कतिपय आलङ्कारिकों ने उपमा के श्रौती तथा आर्थी दो विभाग किए हैं।[1] उपमा का यह विभाजन इन आलङ्कारिकों के अनुसार इव आदि तथा तुल्य आदि शब्दों के भेद पर आश्रित है। इव आदि के प्रयोग पर ये उपमा को श्रौती मानते हैं तथा तुल्यादि के प्रयोग पर उपमा को आर्थी मानते हैं।[2] इव आदि तथा तुल्य आदि के इस भेद के लिए यह आवश्यक है कि इन शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार किया जाए। सादृश्य तथा साधर्म्य को पृथक् मानने वाले विद्वानों ने ऐसा स्वीकार करके इव आदि का अर्थ साधर्म्य लिया है तथा तुल्य आदि का अर्थ सादृश्य लिया है।[3] इव आदि का प्रयोग करने पर साधर्म्य शाब्द होगा तथा सादृश्य आर्थ होगा। तुल्यादि का प्रयोग करने पर सादृश्य शाब्द होगा तथा साधर्म्य आर्थ

---

१. 'श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा'—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४८।

२. यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यै......तत्सद्भावे श्रौती—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४९
साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५२।

३. यथेवादिशब्दानां सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्ततया यथेवादिप्रयोगस्थले साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं वाच्यं सादृश्यप्रतीतिस्त्वार्थी। तुल्यादिशब्दानां सादृश्यवति शक्तेः तुल्यसदृशादिशब्दप्रयोगस्थले सादृश्यं वाच्यं साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं त्वार्थमिति संबन्धबोधे विशेषादुपपद्यते एव श्रौत्यार्थी चेती विभागः। —बालबोधिनी पृष्ठ ५४९।

होगा। पूर्व दशा में उपमा शाब्दी होगी तथा द्वितीय दशा में उपमा आर्थी होगी। इस प्रकार इन आलङ्कारिकों को श्रौती तथा आर्थी नामक उपमाविभाजन का एक आधार मिल जाता है।[1] सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानों के पास तो इस विभाजन का कोई आधार ही नहीं रह जाता। इन विद्वानों ने इस विभाजन का आधार ढूंढने का प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु वह सफल नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानों के अनुसार इवादि का अर्थ सादृश्य होता है तथा तुल्यादि का अर्थ सदृश होता है। इस प्रकार दोनों शब्दों के अर्थों में अन्तर है।[2]

प्रश्न उठता है कि सादृश्य तथा सदृश में क्या अन्तर है। इवादि के प्रयोग की दशा में वस्तुओं में सादृश्य होता है तथा तुल्यादि के प्रयोग की दशा में वस्तुएं सदृश होती हैं। वस्तुओं के सदृश होने के ज्ञान में तथा उनके सादृश्यज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ये विद्वान् कहते हैं कि इवादि के द्वारा साक्षात् सादृश्य का ज्ञान होता है तथा तुल्यादि के द्वारा धर्मी के व्यवधान से सादृश्य का ज्ञान होता है—

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादकेवादिशब्दानां प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेनसादृश्यप्रतिपादकानां सदृशशब्दानां प्रयोगे आर्थी।

—प्रतापरुद्रयशोभूषण

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादका इवयथाशब्दाः तत्प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेन सादृश्यप्रतिपादकास्तुल्यादिशब्दाः तत्प्रयोगे तु आर्थी।"

—एकावली पर मल्लिनाथ की तरला

यह मत उचित नहीं। हमें जब वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान होता है तभी हम उन्हें सदृश समझते हैं। अतः जब वस्तुओं को सदृश समझा जाता है

---

१. वैसे साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानकर भी उपमा के इस विभाजन का खण्डन किया जा सकता है परन्तु उसके कारण अन्य हैं (इसका निरूपण उपमा के प्रकरण में किया जाएगा)। इससे कम से कम इवादि तथा तुल्यादि का भेद तो स्पष्ट हो गया।

२. "इवादीनामपि अर्थात् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेव इति तत्प्रयोगे श्रौतीत्यर्थः। तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सदृशपरत्वम् अर्थात् सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे तु आर्थी।" —एकावली पर मल्लिनाथ की तरला।

तब निश्चित है कि उनमें सादृश्य का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाता है कि सदृश के प्रयोग से वस्तुओं के सदृश होने का ज्ञान नहीं हो सकता तो हमारा उत्तर है कि केवल इव के प्रयोग से भी सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः सादृश्यज्ञान हमें साधर्म्य के आधार पर होता है। उसे तो ये विद्वान् मानते नहीं और वस्तुओं के सादृश्यज्ञान तथा सदृश वस्तुओं के ज्ञान में भेद करने का प्रयत्न करते हैं।

सदृश वस्तुओं के ज्ञान की स्थिति में ये विद्वान् उन वस्तुओं के सादृश्य-ज्ञान का निराकरण कर सके हों ऐसी बात नहीं। उन्हें इस सादृश्यज्ञान को स्वीकार करना ही पड़ा। परन्तु इन्होंने कहा कि तुल्यादि शब्दों के प्रयोग की दशा में सादृश्यज्ञान होता तो है, परन्तु वह विशेष्यत्वेन न होकर विशेषणत्वेन होता है। इवादि के प्रयोग की दशा में इसके विपरीत वह विशेष्यत्वेन होता है:—

"यथादिना सादृश्यरूपः सम्बन्ध एव साक्षादभिधीयते (साक्षाद्वि-शेष्यतया-प्रभा) षष्ठीवत् तुल्यादिभिस्तु (सादृश्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकैस्तु-ल्यादिभिस्तु-प्रभा) धर्म्यपि (विशेषणतया सादृश्याभिधानादार्थीत्वमित्यर्थः-प्रभा)।"—Sukthankar K P X P. 9.

यह मत भी उचित नहीं। यहां ज्ञान का विभाजन वाक्य-रचना के स्वरूपभेद के आधार पर किया गया है। परन्तु ज्ञान का विभाजन ज्ञान के स्वरूपभेद के आधार पर ही होना चाहिए, वाक्य-रचना के स्वरूप तथा व्याकरण के आधार पर नहीं। यदि केवल वाक्य-रचना के आधार पर भेद किया जाता है तो 'इदं फलं मधुरम्' और 'अस्मिन् फले माधुर्यम्' इन दोनों वाक्यों से उत्पन्न माधुर्य के ज्ञान में अन्तर होना चाहिए। परन्तु हमें इस प्रकार के किसी अन्तर की प्रतीति नहीं होती।

दूसरे यदि वाक्य-रचना के आधार पर सादृश्य में भेद करना ही है तो यह आवश्यक नहीं कि इवादि के प्रयोग की दशा में सादृश्य विशेष्यत्वेन ही हो। वह विशेषणत्वेन भी सम्भव है। उदाहरणतः 'मुखं चन्द्र इव आह्लादकम्' इस वाक्य में इस सिद्धान्त के अनुसार सादृश्य विशेषणत्वेन

होता है विशेष्यत्वेन नहीं ।[1] इस वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार है:—

आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेयं मुखम् ।'

यहां साधारणधर्म विशेषण के रूप में है। अतः उस पर आश्रित सादृश्य भी इसी रूप में होगा।

अतः इवादि तथा तुल्यादि का भेद उनका क्रमशः साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है।

सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले कह सकते हैं कि इवादि का अर्थ साधर्म्य न होकर सादृश्य होता है। अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है:—

"यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणो":—भामह २–३१

"यथा सादृश्ये"—पाणिनि २–१–७

हमें इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। हमारा यह आग्रह नहीं कि इवादि का अर्थ साधर्म्य लिया जाय तथा तुल्यादि का अर्थ सादृश्य लिया जाय। हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि यदि इवादि तथा तुल्यादि में भेद किया जाता है तो वह केवल इनके क्रमशः साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है। परन्तु यदि इनके अर्थ में भेद नहीं किया जाता है तो इससे हमारे इस सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती कि सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। हमारा साध्य सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद ही है, इवादि तथा तुल्यादि का भेद हमारा साध्य नहीं। इवादि तथा तुल्यादि के अर्थ में भेद न रहने पर भी सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद बना रहेगा। उपमा में हमें सादृश्य की प्रतीति होगी तथा दीपक, तुल्ययोगिता आदि में साधर्म्य की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य एक न होकर भिन्न भिन्न हैं।

---

१. "एवं च चन्द्र इवेत्यत्र आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेयं मुखमिति बोधः।—साधारणधर्मसंबन्धश्च क्वचिद्विशेषणतया यथा चन्द्र इव मुखमाह्लादकमित्यादौ। क्वचिद्विशेष्यतया यथा मुखमाह्लादयतीत्यादौ। अत्र हि उपमानचन्द्रकर्तृकाह्लादाभिन्न उपमेयमुखकर्तृकाह्लाद इति बोधः।.........।" Sukthankar KPX P. 11.

सादृश्य का क्षेत्र

सादृश्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त सृष्टि में हमें सादृश्य किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है। क्षेत्र की दृष्टि से इस रूप के हम तीन भेद कर सकते हैं—चेतन, अचेतन तथा चेतन एवं अचेतन का सम्मिश्रण। जहां सादृश्य विचारों अथवा भावों के क्षेत्र में होता है वहां सादृश्य का स्वरूप चेतन होता है। विचार अथवा भाव चेतनस्वरूप होते हैं। अतः उनमें विद्यमान सादृश्य भी उसी रूप में सम्भव है। यह सादृश्य प्रायः लोक अथवा समाज में होता है। समाज में जहां व्यवहारसादृश्य के दर्शन होते हैं वहां सादृश्य का यही रूप विद्यमान रहता है।

सादृश्य का अचेतन रूप हमें पदार्थों के भौतिक स्वरूप में दिखाई देता है। प्रकृति में विद्यमान सादृश्य के कतिपय रूप इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। प्रकृति में सादृश्य के अचेतन स्वरूप के अतिरिक्त सादृश्य के चेतन स्वरूप भी सम्भव हैं।

सादृश्यसम्बन्धी चेतन तथा अचेतन का मिश्रित स्वरूप सप्राण वस्तुओं में दिखाई देता है। सप्राण वस्तुओं में उनके भौतिक अंशों को लेकर जो सादृश्य होता है वह सादृश्य का अचेतन रूप होता है तथा उन भौतिक अंशों से अभिव्यक्त चेतनांशों में साम्य होने पर सादृश्य का चेतन रूप होता है। उदाहरणतः कान्ता, बालक आदि के विभिन्न शारीरिक अवयवों में कोमलता आदि की दृष्टि से जो सादृश्य है वह सादृश्य का अचेतन रूप है। अवयवों में विद्यमान ये कोमलता आदि स्थूल शरीर के धर्म हैं। अतः इनसे सम्बन्धित सादृश्य अचेतनता की कोटि में आता है। इसके अतिरिक्त इन प्राणियों के विभिन्न अंगों से अभिव्यक्त होने वाले प्रसन्नता एवं क्रोधादिक भावों में भी साम्य सम्भव है। यह साम्य चेतनता की श्रेणी में आता है। इस प्रकार सप्राण वस्तुओं में सादृश्य के चेतन एवं अचेतन दोनों रूप सम्भव हैं।

विधाता की सृष्टि के अतिरिक्त कलासृष्टि में भी सादृश्य के दर्शन होते हैं। कलासृष्टि मनुष्य की सृष्टि है। मनुष्य की सृष्टि होने के नाते हमारा इससे निकट सम्बन्ध है। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारा सम्बन्ध समस्त सृष्टि से है। समस्त सृष्टि एक ही चेतन शक्ति का प्रकाश है और

उसी शक्ति का प्रकाश हममें है। इस प्रकार समस्त सृष्टि के साथ हमारा सम्बन्ध है। परन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान एक विचारक को ही हो सकता है। कलासृष्टि के साथ सम्बन्ध का अनुभव प्रत्येक सहृदय को होता है। कलासृष्टि कलाकार की अनुभूति की व्यञ्जना है। यह सत्य है कि कलाकार प्रायः किसी बाह्य वस्तु को आधार बनाकर कलासर्जन में प्रवृत्त होता है, परन्तु कलासर्जन के समय यह बाह्य वस्तु उसकी चेतना अथवा अनुभूति का अंग बन जाती है। इस प्रकार कला में कलाकार किसी बाह्य वस्तु का तटस्थ रूप से निर्माण अथवा वर्णन न करके अपनी ही अनुभूति को रूप प्रदान करता है। शिल्प तथा कला में यही अन्तर है कि शिल्प में शिल्पकार तटस्थ रूप से किसी वस्तु का निर्माण करता है, परन्तु कला में कलाकार वस्तु को आत्मसात् करके अपनी अनुभूति को साकार बनाता है। इस प्रकार एक मानवीय अनुभूति की अभिव्यञ्जना होने के नाते कला से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अब हमें यह देखना है कि समाज, प्रकृति तथा कला में यह सादृश्य किस प्रकार होता है।

समाज में सादृश्य

समाज में इस सादृश्य के पद पद पर दर्शन होते हैं। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि समाज की व्यावहारिक स्थिति सादृश्य पर अवलम्बित है। समाज का निर्माण पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर होता है। समाज में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। पिता-पुत्र का, गुरु-शिष्य का भाई-बहिन का, पति-पत्नी का, ये सब सम्बन्ध समाज के अन्तर्गत आते हैं और इन्हीं के सम्यक् निर्वाह पर समाज की व्यावहारिक स्थिति निर्भर है। इन सम्बन्धों का सम्यक् निर्वाह सम्बन्धित व्यक्तियों के उचित आचरण पर निर्भर करता है और इस आचरण का औचित्य प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक आचरण के साथ प्रस्तुत आचरण के सादृश्य रखने में निहित है। यदि प्रस्तुत आचरण प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक आचरणों से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। उदाहरणतः पिना एवं पुत्र के पारस्परिक आचरण को लें। यदि प्रस्तुत पिता और पुत्र का आचरण पिता एवं पुत्र के सामान्य आचरण से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। इस प्रकार आचरण अथवा व्यवहार का औचित्य सादृश्य पर ही अवलम्बित है और इस व्यवहार के औचित्य पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है।

समाज में विद्यमान सम्बन्धों में सादृश्य पर आश्रित इस आचरण का प्रमुख स्थान है। हम प्रत्येक सम्बन्ध के दो भाग कर सकते हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म अथवा भौतिक एवं मानसिक। आचरण सम्बन्ध का सूक्ष्म अथवा मानसिक अंग है। सम्बन्ध की सार्थकता इसी अंग के निर्वाह में है। उदाहरणतः पिता एवं पुत्र के सम्बन्ध को लें। इस सम्बन्ध का स्थूल अंश जन्यजनकभाव है तथा सूक्ष्म अंश पिता तथा पुत्र का क्रमशः स्नेह तथा श्रद्धा-प्रदर्शन है। प्रस्तुत सम्बन्ध की सार्थकता इसी द्वितीय अंश के निर्वाह में है। इस अंश के अभाव में स्थूल सम्बन्ध का कोई मूल्य नहीं रहता। पिता एवं पुत्र के उदाहरण में मानसिक अंश के अभाव में भौतिक सम्बन्ध बना तो रहता है, कभी कभी तो मानसिक अंश के अभाव में भौतिक सम्बन्ध का उच्छेद भी हो सकता है। पति तथा पत्नी का सम्बन्ध इसी प्रकार का है।

समाज की व्यावहारिक स्थिति में मानसिक पक्ष पर आश्रित आचरण के इस सादृश्य का महत्त्व इसलिए है क्योंकि व्यवहार से सम्बन्ध इसी अंश का है। व्यवहार में व्यक्ति को अपनी ओर से कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। व्यवहार एक साध्य वस्तु है सिद्ध वस्तु नहीं। सम्बन्ध का यह मानसिक अंश भी सम्बन्ध के साध्य अंश को लक्ष्य करके प्रवृत्त होता है। सम्बन्ध के इस अंश में व्यक्ति को अपनी ओर से प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तर। पुत्र के उदाहरण को लें तो ज्ञात होगा कि पिता के प्रति उसके आचरण के दो प्रकार हो सकते हैं—पहले प्रकार में पिता के आगमन पर पुत्र का आसन से खड़े हो जाना, पिता को प्रणाम करना आदि चेष्टाएं आती हैं। इन चेष्टाओं का शरीर से सम्बन्ध है। अतः ये बाह्य प्रकार के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत पुत्र का पिता के प्रति श्रद्धाप्रदर्शन आदि है। इनका सम्बन्ध मन से है। अतः ये आभ्यन्तर प्रकार के अन्तर्गत हैं। वस्तुतः देखा जाए तो आचरण का प्रथम प्रकार भी मानसिक ही है। शरीर की बाह्य चेष्टाएं हृदय के भाव की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र हैं। हृदय का यह भाव उन बाह्य अभिव्यक्तियों के मूल में रहता है तथा उनके सद्भाव के समय उसका भी सद्भाव रहता है। अतः समस्त आचरण को मानसिक अथवा मनः प्रधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। व्यावहारिक जगत् में सम्बन्ध का यही मानसिक अंश क्रियाशील रहता है। अतः यह व्यावहारिक जगत् का मूल है। सम्बन्ध के स्थूल अंश के साथ यह बात नहीं। स्थूल अंश पूर्वसिद्ध होता है। अतः व्यावहारिक क्षेत्र से उसका बहिर्भाव हो जाता है। उदाहरणतः हम "मातृदेवो भव" इस नियम को लें। यहां पुत्र के लिए माता को देवतुल्य समझने का विधान है। माता का जन्मदात्रीत्व अंश तो पुत्र के लिए पूर्व-सिद्ध है। अतः पुत्र के व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु 'माता को देवतुल्य' समझना यह अंश पुत्र के लिए साध्य है। अतः इसके लिए पुत्र के आचरण की अपेक्षा है। पुत्र का जो आचरण इस नियम से मेल खाएगा वह उचित होगा तथा अन्य अनुचित होगा। इसी प्रकार समाज में अन्य अनेक नियम हैं जैसे 'पितृदेवो भव' 'आचार्यदेवो' आदि। इन्हीं के सम्यक् निर्वाह पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है। इनके सम्यक् निर्वाह के लिए आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्ति का आचरण इन नियमों से मेल खाए।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ समाज में विद्यमान सम्बन्धों एवं नियमों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। अतः यह कहना कहाँ तक उचित है कि समाज की स्थिति सदा सम्बन्धों तथा नियमों के समान रूप से निर्वाह पर अवलम्बित है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि समाज का प्रत्येक नियम तथा सम्बन्ध परिवर्तनशील नहीं। दूसरे जो सम्बन्ध अथवा नियम परिस्थितिवश परिवर्तित होते भी हैं उनके स्वरूप का निर्धारण परिवर्तित परिस्थिति से साम्य अथवा मेल के आधार पर ही होता है और जब तक वह परिवर्तित परिस्थिति बनी रहती है तबतक तदनुसार परिवर्तित सम्बन्ध अथवा नियम के स्वरूप का समान रूप से निर्वाह नितान्त अपेक्षित है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का सादृश्य समाज की व्यावहारिक स्थिति के लिए आवश्यक है।

प्रकृति में सादृश्य

इस सादृश्य के दर्शन हमें प्रकृति में भी होते हैं। प्रकृति में विद्यमान यह सादृश्य अनेक प्रकार का होता है। इस सादृश्य का एक प्रकार तो सम्मुख विद्यमान प्राकृतिक वस्तुओं तथा तत्समान पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओं का सादृश्य है। यह सादृश्य यद्यपि सम्मुख विद्यमान प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आता, + परन्तु सम्मुख विद्यमान प्रकृति के सम्पर्क में आने पर अथवा वहाँ जाने पर इसका ज्ञान होता है। इसी दृष्टि से इसे प्रकृति में सादृश्य कहा है।

प्रकृति के साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण प्राकृतिक वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न संस्कार हमारे मन में अंकित हो जाते हैं। हम कालान्तर में जब ऐसी ही वस्तुओं को देखते हैं तब उनमें साम्य के आधार पर पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओं का स्मरण करके आनन्द का अनुभव करते हैं। इस दशा में सादृश्य का ज्ञान थोड़ी देर के लिए ही होता है। इसके बाद हमारा ध्यान स्मर्यमाण वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है और हम उस वस्तु से सम्बन्धित अपने पूर्व कार्य-कलापों पर विचार करने लगते हैं।

वैसे तो किसी भी वस्तु को देखकर तत्समान पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण हो आता है, परन्तु प्राकृतिक वस्तुओं में ऐसा विशेष रूप से होता है। प्रकृति का वातावरण शान्त होता है। अतः उसमें मस्तिष्क के शान्त होने के कारण स्मृति के लिए पूर्ण अवकाश रहता है।

प्रकृति में विद्यमान दूसरा सादृश्य प्रकृति में विद्यमान शान्ति तथा बुद्धि में निहित शान्ति का सादृश्य है। हम प्रकृति में एक अपूर्व शान्ति देखते हैं। हमारी चेतना के मूल में भी शान्ति विद्यमान है। चेतना के मूल में स्थित इस शान्ति का प्रकृति में विद्यमान शान्ति से साम्य होने से हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस साम्य का ज्ञान व्यक्ति को प्रायः होता नहीं। परन्तु उसकी सत्ता अवश्य होती है और इसी से आनन्दानुभूति होती है।

भावुक तथा कविहृदय व्यक्तियों को प्रकृति में इस शान्त भावना ही का साम्य नहीं मिलता, अपितु अपने अन्य भावों का भी साम्य मिलता है।

कवि प्रकृति को चेतन के रूप में देखता है तथा उस पर अपने भावों का आरोप करता है। अपने उल्लास में प्रकृति उसे उल्लसित तथा अपने विषाद में वह उसे विषण्ण दिखाई देती है। इस भाव-साम्य के कारण कवि को आनन्द की अनुभूति होती है।

अब तक प्रकृति में जिस सादृश्य का विवेचन हुआ है वह सम्मुख स्थित प्रकृति का साम्य अन्य वस्तुओं से लक्ष्य करके हुआ है। ये वस्तुएं चाहे पूर्वदृष्ट प्राकृतिक पदार्थ हों अथवा भाव हों, हैं ये अन्य ही। इसके अतिरिक्त सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुओं में परस्पर भी एक सादृश्य होता है। सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—मनुष्य के प्रयास से निर्मित तथा सर्वथा नैसर्गिक अवस्था में विद्यमान। प्रथम कोटि में उद्यान आदि आते हैं तथा द्वितीय कोटि में वन, सरिता आदि आते है। उद्यान आदि में सादृश्य-विधान स्पष्ट ही है। उद्यान में यद्यपि वृक्षों, पादपों, पुष्पों आदि की विविधता होती है परन्तु उनकी व्यवस्था वहां सादृश्य को ध्यान में रखकर की जाती है और प्रधानतः इसी से दर्शक के मन में सौन्दर्य-भावना की उत्पत्ति होती है।

नैसर्गिक अवस्था में विद्यमान प्रकृति में भी हमें सादृश्य के दर्शन होते हैं। इस अवस्था में प्रकृति में अनेक विविधताएं होती हैं। दर्शक उनमें से सदृश वस्तुओं का चयन कर लेता है तथा इस चयन से उत्पन्न प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता है। सदृश वस्तुओं का यह चयन प्रकृति की विशेषता के कारण स्वतः हो जाता है। Alexander की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"We find nature beautiful not because she is beautiful herself but because we select from nature and combine as the artist does more plainly when he works with pigments" —Page 30

"The man makes nature beautiful by selection and if need be by imaginative addition" Page 33.

Beauty and other forms of Value.

उदाहरणतः यदि एक वन का दृश्य हमारे सम्मुख है और हमारी दृष्टि एक झुके हुए वृक्ष की ओर जाती है तो वह दृष्टि उसी वृक्ष तक सीमित

नहीं रहती, अपितु उस जैसे अन्य वृक्षों को भी अपना विषय बनाती है। फलतः उन वृक्षों में सादृश्यदर्शन के कारण हमें सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इसी प्रकार एक सीधे वृक्ष के दृष्टिगत होने पर अनेक इसी जैसे वृक्ष हमारी दृष्टि के विषय बनकर अपनी पारस्परिक समानता के फलस्वरूप हमारे हृदय में सौन्दर्य की भावना उत्पन्न करते हैं। यह सादृश्य प्रकृति में अनेक प्रकार से सम्भव है। प्रकृति विविधताओं का विशाल समुदाय है, परन्तु इस समुदाय में चयन के फलस्वरूप सादृश्य-विधान कोई कठिन कार्य नहीं। जहां इस सादृश्य-विधान में अभाव के कारण कोई कठिनता आती है वहां दर्शक अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे उस अभाव की पूर्ति कर लेता है।

प्रकृति में अब तक जिस सादृश्य का विवेचन किया गया है वह रूप-साम्य के आधार पर हुआ है। इस साम्य के अतिरिक्त ध्वनि-साम्य के आधार पर भी प्रकृति में सादृश्य होता है। प्रकृति में श्रोता को अनेक स्वर सुनाई देते हैं। इन स्वरों में विविधता होती है। परन्तु श्रोता उनके श्रवण में तल्लीन होकर विविधता के जनक स्वर-वैशिष्ट्य को नहीं सुनता अपितु स्वर-सामान्य को अपना विषय बनाता है तथा निरन्तर एक समरस ध्वनि की गुञ्जार उसके कानों में होती रहती है। जहां श्रोता अपना ध्यान स्वरों के इस सामान्य अंश पर केन्द्रित न करके उनके विशेष अंश को अपना लक्ष्य बनाता है वहां भी विभिन्न स्वरों में वह सहज ही एक क्रम तथा व्यवस्था स्थापित कर लेता है। उदाहरणतः श्रोता वृक्षों पर पक्षियों के विभिन्न शब्दों को सुनता है। इनमें कुछ का स्वर मन्द होता है तथा कुछ का ऊंचा। वृक्षों के नीचे वह सरिता की गम्भीर ध्वनि सुनता है। इन विभिन्न ध्वनियों में श्रोता सहज ही समन्वय स्थापित कर लेता है और इस समन्वित रूप में वह इन ध्वनियों को निरन्तर सुनता रहता है। इस प्रकार प्रकृति में व्यक्ति को रूप-साम्य तथा ध्वनि-साम्य दोनों मिलते हैं और इन दोनों का ज्ञान लगभग साथ साथ सा चलता रहता है। इससे उसे एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

"कला में सादृश्य"

कला को हम भावों की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। भाव अमूर्त होते हैं। इन्हें मूर्त रूप देना ही कला है। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता है। विभिन्न कलाओं में ये माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। साहित्य में शब्द, संगीत में स्वर, चित्र में रेखा एवं रंग, मूर्ति में प्रस्तर आदि तथा वास्तु कला में ईंट, चूना आदि माध्यम का काम करते हैं। इन माध्यमों को कला का भोग तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व के द्वारा भावों को मूर्त बनाने के लिए आवश्यक है कि इस तत्त्व को एक व्यवस्थित रूप दिया जाए। स्वतः भोग तत्त्व भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं अपितु उसका व्यवस्थित रूप ही ऐसा करने में समर्थ है। यह व्यवस्थित रूप कला का रूपतत्त्व कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस रूप का सम्बन्ध केवल भोग तत्त्व से जोड़ा है और इस प्रकार रूप को भोग अथवा माध्यम का रूप कहा है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह रूप भोग अथवा माध्यम का ही रूप नहीं होता अपितु भावों का भी रूप बन जाता है। इतना अवश्य है कि भावों का अमूर्त रूप इस अवस्था में मूर्तता को प्राप्त कर लेता है। यह रूपतत्त्व समस्त कलाओं का आवश्यक अङ्ग है। इतना अवश्य है कि किसी कला में माध्यम से सम्बन्धित रूपतत्त्व सर्वथा गौण अथवा नगण्य होता है तथा भावों से सम्बन्धित रूपतत्त्व ही आनन्द का प्रधान कारण होता है। साहित्य कला इसी प्रकार की कला है। इसके माध्यम शब्द हैं। उच्चारण की दृष्टि से ये ध्वनि-स्वरूप हैं। साहित्य-जन्य आनन्द में शब्दों के इस स्वरूप का महत्त्व नगण्य है। दूसरे शब्दों का यह रूप तो संगीत के अन्तर्गत चला जाता है। अतः वह साहित्य को स्वतन्त्र कला सिद्ध करने का हेतु नहीं। अन्य कलाओं से साहित्य के इस भेद के कारण हम सर्वप्रथम साहित्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में ही रूपतत्त्व का विवेचन करेंगे। रूप-तत्त्व के विवेचन में हम प्रथम उसके माध्यम से सम्बन्धित स्वरूप को लेकर चलते हैं।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में रूपतत्त्व के चार गुण माने गए हैं— सापेक्षता (Proportion) समता (Symmetry) संगति (harmony) तथा सन्तुलन (balance)। अतः यह स्पष्ट है कि समता रूपतत्त्व का आवश्यक अंग है तथा ऐसा होने के नाते वह कला के

आधारों में से एक आधार है। इतना ही नहीं रूपतत्त्व के अन्य गुणों के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि उनके निर्वाह के लिए किसी न किसी रूप में समानता का ध्यान रखना अपेक्षित है। हम सर्वप्रथम सापेक्षता को लेते हैं। सापेक्षता का अर्थ है एक दूसरे की अपेक्षा रखना। इस सिद्धान्त के अनुसार कला में प्रत्येक अवयव की सृष्टि अन्य अवयव अथवा अवयवों को ध्यान में रखकर होती है। उदाहरणतः एक मनुष्य के चित्र में सिर के आकार का निर्धारण शरीर के अन्य अवयवों को लक्ष्य करके होता है। यदि अन्य अवयव विशाल हैं तो सिर भी विशाल होगा और यदि अन्य अवयव लघु हैं तो सिर भी लघु होगा। इतना ही नहीं, सिर की इस विशालता तथा लघुता की मात्रा का निश्चय भी अन्य अवयवों की विशालता अथवा लघुता की मात्रा के आधार पर होगा। यदि ऐसा नहीं होता है और फलतः एक लघु शरीर पर विशाल सिर की योजना की जाती है तो वह व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए हानिकर होगा और कुरूपता का जनक होगा। वस्तुतः शरीर के अवयवों के आधार का अनुपात पूर्वदृष्ट शरीरों के आधार पर हमारे मस्तिष्क में अंकित रहता है। अतः हम जब किसी मनुष्य का चित्र देखते हैं तो अज्ञातरूपेण यह चाहते हैं कि इस चित्र के अवयवों के अनुपात का साम्य हमारे मन में पहले से अंकित अवयवों के अनुपात से हो। सापेक्षता के सिद्धान्त का स्वतः कोई अर्थ नहीं। जब तक हमें यह ज्ञात नहीं कि अमुक वस्तु के अवयवों के आकार का अमुक अनुपात लोक में निश्चित है तब तक यह कहना कि इस वस्तु के अवयवों की रचना उनके आकारसम्बन्धी पारस्परिक अनुपात को लक्ष्य करके की जानी चाहिए कोई अर्थ नहीं रखता। सापेक्षता का सिद्धान्त वस्तुतः पूर्व निश्चित अनुपात को मानकर चलता है तथा उस अनुपात से साम्य के निर्वाह का निर्देश करता है। इस प्रकार सापेक्षता के लिए समता अपेक्षित है। इतना अवश्य है कि सामान्य समता अवयवों की पारस्परिक समानता का निर्देश करती है तथा सापेक्षता पूर्व-निश्चित अनुपात से साम्य का निर्देश करती है।

संगति का अर्थ है अवयवों में सामञ्जस्य का होना। किसी वस्तु में अनेक अवयव होते हैं। इस अनेकता के कारण वस्तु में विविधता होती है। परन्तु वस्तु के व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए आवश्यक है कि इस विविधता में एकता की प्रतीति हो। अनेकता में एकता की यह प्रतीति

अवयवों के सामञ्जस्य के कारण होती है। सामञ्जस्य से अवयव पृथक् पृथक् प्रतीत न होकर एक व्यवस्थित एवं संश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं जो प्रत्येक कलाकृति के लिए आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि संगति अथवा सामञ्जस्य कला के रूपतत्त्व का प्राण है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह संगति अवयवों में किस प्रकार आती है। अवश्य ही संगति के लिए कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता है जिनके फलस्वरूप संगति उत्पन्न हो। बिना किसी अन्य नियम को अपनाए अवयवों में स्वतः संगति नहीं लाई जा सकती। अवयवों में स्वतः संगति तो तभी लाई जा सकती है जब संगति का कोई पूर्व-निर्दिष्ट सामान्य स्वरूप कलाकार के सम्मुख हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। संगति का ज्ञान कलाकार को तभी होता है जब संगति कलाकृति में आ चुकती है, इससे पूर्व नहीं। जब कलाकार कलाकृति के एक अवयव का निर्माण कर लेता है तथा एक अन्य अवयव का निर्माण करना चाहता है जिसकी पूर्व अवयव से संगति बैठे तब स्वतः संगति का कोई निश्चित स्वरूप उसके सामने नहीं होता जिसका तटस्थता से अनुसरण करके वह दूसरे अवयव का निर्माण कर सके। इसलिए स्पष्टतः अथवा अस्पष्टतः वह समानता आदि के सिद्धान्त अपनाता है जिनके फलस्वरूप कलाकृति में संगति आती है। अतः यह सिद्ध है कि संगति के निर्वाह के लिए समानता, सापेक्षता आदि का निर्वाह आवश्यक है। सापेक्षता के लिए समानता आवश्यक है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतःसंगति के निर्वाह में समानता का प्रमुख स्थान है।

सन्तुलन का अर्थ है एक अवयव के द्वारा अन्य अवयव अथवा अवयवों के प्रभाव में वृद्धि करना। संगति के समान इस गुण का भी कोई पूर्वनिश्चित स्वरूप कलाकार के सम्मुख नहीं रहता परन्तु समता के विभिन्न स्वरूपों को अपनाकर ही वह कलाकृति में इस गुण को जन्म देता है। रूपतत्त्व में सन्तुलन गुण के निर्देश का उद्देश्य कलाकृति में सन्तुलन लाना ही नहीं अपितु इस गुण के अभाव से उत्पन्न रूपविघातक प्रभाव से बचना भी है। इसका कारण यह है कि इस गुण के अभाव में अवयव-विशेष का ही सन्तुलन नष्ट नहीं होता अपितु वह अन्य अवयवों को भी प्रभावित करता है तथा उनके सन्तुलन को नष्ट कर देता है। इस प्रकार अवयव-विशेष का

असन्तुलन उसी अवयव तक सीमित न रहकर समस्त अवयवसमुदाय को अपने क्षेत्र में ले आता है । संगति के अभाव में ऐसा नहीं होता। अवयव-विशेष की असंगति उसी अवयव तक सीमित रहती है। इस दशा में केवल इतना होता है कि असंगत अवयव का अन्य अवयवों से मेल नहीं बैठता। अन्य अवयवों का पारस्परिक मेल वैसा बना रहता है। परन्तु असन्तुलन में अवयव-विशेष इतना विषम अथवा बेमेल होता है कि उसका यह विषम स्वरूप समस्त चित्र को ही अस्त-व्यस्त कर देता है। इस प्रकार असन्तुलन असंगति का बढ़ा हुआ रूप है। अतः व्यवस्थित रूप-निर्माण के लिए इससे बचना परम आवश्यक है।

कलाकृति के स्वरूप में बाह्य आकार अथवा रूप की दृष्टि से ही साम्य नहीं अपितु भाव की दृष्टि से भी साम्य होता है। हम भाव को कलाकृति के रूप से सर्वथा पृथक् नहीं कर सकते। वस्तुतः हम जब कलाकृति का दर्शन करते हैं तब उसका स्थूल आकार ही हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता, परन्तु वे भाव भी हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं जो उस आकार से व्यक्त हो रहे हैं। इस प्रकार हम बाह्य आकारमात्र को न देखकर भावों से ओतप्रोत आकार को देखते हैं। यदि भगवान् शंकर की मूर्ति हमारे सामने है तो हम उस शान्त भावना को देखे बिना नहीं रह सकते जो उस मूर्ति के प्रत्येक अवयव से झलक रही है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ऐसी दशा में हम एक जड मूर्ति का आकार न देखकर शान्त भावना का मूर्त रूप देखते हैं। इस शान्त भावना के लिए भी साम्य का निर्वाह अपेक्षित है। हम यह शान्त भावना मूर्ति के एक आध अवयव में प्रतिबिम्बित न देखकर समस्त अवयवों में प्रतिबिम्बित देखते हैं। इस भावना में शरीर के प्रत्येक अवयव की एक विशेष स्थिति होती है। नेत्र, मुख, हस्त आदि समस्त अवयव इस भावना के समय एक विशेष आकार धारण करते हैं। अतः हम इन सब अवयवों के इस विशेष आकार को देखकर इन सब अवयवों में एक समान शान्त भावना के दर्शन करते हैं। और फलतः एक शान्त मुद्रा हमारे सामने नाचने लगती है। यदि भाव के अभिव्यञ्जक किसी एक शारीरिक अवयव से शान्त भावना की अभिव्यक्ति न होकर अन्य किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है तो सब अवयवों से समान भाव के अभिव्यक्त न होने के कारण शान्त भावना

की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए साम्य का निर्वाह अपेक्षित है।

चित्रकला में चित्र के विभिन्न अवयवों से ही नहीं अपितु उसके वर्णों से भी भावों की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न वर्ण विभिन्न भावनाओं के अभिव्यञ्जक माने गए हैं, जैसे हरा रंग शीतलता का, नीला रंग गम्भीरता का तथा श्वेत वर्ण स्वच्छता का अभिव्यञ्जक माना गया है। इस प्रकार चित्र के समस्त अवयवों एवं वर्णों से एक समान भाव की अभिव्यक्ति होने के कारण हमें वह चित्र उस भाव का मूर्त रूप प्रतीत होता है।

भावाभिव्यक्ति के इस विषय को लेकर वास्तुकला में बाधा अवश्य उपस्थित होती है, परन्तु इसका कारण यह नहीं कि वास्तुकला में भावों की अभिव्यक्ति का लेश भी नहीं होता अपितु इसका कारण यह है कि इस कला में भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त अस्पष्ट होती है। दूसरे इस कला में प्रधानतः जीवन के भावों की अभिव्यक्ति न होकर सनातन तथा चिरन्तन भावों की अभिव्यक्ति होती है। इन भावों का हमारे जीवन से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण तथा प्रस्तुत कला में बाह्य आकार के अत्यन्त विशाल होने के कारण हमारा ध्यान आकार से आगे बहुत कम बढ़ता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार भावाभिव्यक्ति का यह सिद्धान्त संगीत पर भी लागू नहीं होता। इनके अनुसार संगीत में केवल स्वर के आरोहावरोह का चमत्कार होता है किसी भावविशेष का नहीं। इन विद्वानों का यह मत पूर्णतः सत्य नहीं। हम भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से संगीत के दो भेद कर सकते हैं—शुद्ध तथा मिश्रित। शुद्ध संगीत में वाद्यसंगीत आदि आते हैं। इस संगीत में भावों की सत्ता नहीं होती परन्तु मिश्रित संगीत में भावों की सत्ता होती है। इस संगीत में श्रोता स्वरों के आरोहावरोह का ही आनन्द नहीं लेता अपितु उससे अभिव्यक्त होने वाले भावों का भी आनन्द लेता है। यह सम्भव है कि संगीत प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति न कर सके परन्तु हर्ष, विषाद आदि परस्पर सर्वथा भिन्न भावों की अभिव्यक्ति वह सरलता से कर सकता है और जहां ऐसे भावों की अभिव्यक्ति होती है, वहां वह अत्यन्त तीव्र होती है। ऐसे भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी साम्य का निर्वाह आवश्यक है।

उपर्युक्त कलाओं के द्वारा कलाकार जिस भाव को अभिव्यक्त करता है उसकी अनुभूति प्रायः पहले से विद्यमान रहती है। पूर्व विद्यमान अपनी इस अनुभूति को वह कला के माध्यम द्वारा व्यक्त करता है। कभी कभी यह भी सम्भव है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अस्तित्व समकालीन हो तथा अभिव्यक्ति का रूप धारण करने पर ही कलाकार को अनुभूति का ज्ञान हो। परन्तु ऐसी दशाओं में भी अनुभूति का कोई न कोई अंश अभिव्यक्ति से पूर्व अवश्य रहता है तथा अभिव्यक्ति के समय अस्तित्व में आने वाली अनुभूति इसी पूर्व अनुभूति का विकसित स्वरूप होती है। ऐसा प्रायः बहुत कम होता है कि बिना किसी प्रकार की पूर्व अनुभूति के कलाकार सहसा अभिव्यक्ति का रूप खड़ा कर सके। अतः अनुभूति अथवा इस अनुभूति के किसी अंश के पूर्व से विद्यमान रहने के कारण यह आवश्यक है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में साम्य हो। कला की सफलता साम्य के इसी निर्वाह में निहित है।

कला में सादृश्य की यह सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहां तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे कला में सादृश्य की प्रतीति कुछ ही अंशों में होती है। जहां उसे कला में सापेक्षता, संगति आदि तत्त्वों के दर्शन होते हैं वहां उसकी दृष्टि उन्हीं तत्त्वों तक सीमित रहती है। इन तत्त्वों के निर्वाह के लिए समानता का ध्यान अपेक्षित अवश्य है परन्तु दर्शक उस समानता तक नहीं जाता।

"काव्य में सादृश्य"

कवि की दृष्टि से.—

काव्य में भी इस सादृश्य का निर्वाह अपेक्षित है। काव्य का निर्माण शब्द के माध्यम से होता है। इस माध्यम के द्वारा काव्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति से पूर्व यह अर्थ कवि के हृदय में अनुभूति के रूप में रहता है। इस अनुभूति को अभिव्यक्ति में परिणत करना ही काव्य का उद्देश्य है। अतः काव्य के लिए अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में साम्य होना नितान्त आवश्यक है। कवि जिस वस्तु की अनुभूति करता है उसे ही वह भाषा द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है। अतः उसकी इस अभिव्यञ्जना की सफलता इसी में है कि यह अनुभूति का ही एक बाह्य रूप हो। वस्तुतः अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के मूल में तत्त्व एक ही है। अन्तर है तो केवल इसके स्वरूप में है। कालिदास के निम्न लिखित श्लोक का यही आशय है:—

"तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि के शोक ने ही श्लोक का रूप धारण किया। अतः श्लोक के रूप में जो वस्तु अभिव्यक्त हुई वह कोई नवीन वस्तु नहीं थी अपितु जो वस्तु पहले अव्यक्त थी उसी ने अब व्यक्त भाषा का रूप धारण किया। "क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"[१] इस उक्ति का यही तात्पर्य है। दण्डी की काव्य की परिभाषा "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[२] भी शब्द तथा अर्थ के साम्य की द्योतक है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि जब अनुभूति ही अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है तथा उसके साथ अविच्छेद्य रूप से लिपटी रहती है तो दोनों को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। क्रोचे ने ऐसा ही किया है। इनके अनुसार अभिव्यक्ति ही कला का सर्वस्व है। यह अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के रूप

१. ध्वन्यालोक १।५ २. काव्यदर्श १।१०

में होती है। बाह्य अभिव्यक्ति की इस आन्तरिक अनुभूति में कोई पृथक् सत्ता नहीं। कलाकार के हृदय में आन्तरिक अनुभूति उत्पन्न होते ही अभिव्यक्ति वस्तुतः पूर्णता को प्राप्त कर चुकती है। अतः उसे शब्दादि के द्वारा बाह्य रूप देना विशेष महत्त्व का नहीं:—

"When we have mastered the internal word, when we have vividly and clearly conceived a figure or statue, when we have found a musical theme, expression is born and is complete, nothing more is needed. What we then do is to say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within".[1]

क्रोचे का यह मत समीचीन नहीं। क्रोचे के अनुसार आन्तरिक अनुभूति ही कला अथवा काव्य के लिए पर्याप्त है। परन्तु हमारे विचार से उसका शब्दादि बाह्य रूप में अभिव्यक्त होना अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए आवश्यक है। आन्तरिक अनुभूति कवि की व्यक्तिगत वस्तु है। अतः वह सहृदयों के आस्वादन का विषय नहीं बन सकती। काव्य के लिए आवश्यक है कि वह कवि की व्यक्तिगत चेतना तक सीमित न रहे अपितु सहृदयों के आस्वादन का विषय बने। अतः आन्तरिक अनुभूति के लिए बाह्य अभिव्यक्ति का रूप धारण करना आवश्यक है। दूसरे अनुभूति उत्पन्न होते ही स्वतः अभिव्यक्ति का रूप धारण नहीं कर लेती। इसके लिए कवि को शब्दादि जुटाने की क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन दोनों में कुछ अन्तर मानना आवश्यक है।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अन्तर दोनों के स्वरूपभेद पर आश्रित है। अभिव्यक्ति का स्वरूप भाषा होता है तथा अनुभूति का स्वरूप भाव अथवा भावों की तीव्रता। भाषा के दो अंश किए जा सकते हैं—उसका उच्चारणांश तथा विचारांश अथवा भावांश। पूर्व अंश श्रोत्रगम्य होता है तथा द्वितीय अंश बुद्धिगम्य अथवा हृदयगम्य। जहां तक भाषा के इस श्रोत्रगम्य अंश का सम्बन्ध है भावों से इसकी पृथक्ता स्पष्ट है। अनुभूति

१· साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ४५२ fn.

के समय इस अंश की उपस्थिति नहीं होती। हां इतना अवश्य है कि इस अंश का भावों से साम्य होता है। भाषा में उच्चारण की कठोरता तथा कोमलता भावों की कठोरता तथा कोमलता को लक्ष्य करके होती है (इसका निरूपण रस-प्रकरण में किया जाएगा)। भाषा के द्वितीय अंश का भी अनुभूति के समय उपस्थित भावों से आंशिक अन्तर है। भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति के समय प्रत्येक भाव भाषा का रूप ग्रहण कर चुका होता है। परन्तु अनुभूति के समय प्रत्येक भाव के साथ ऐसी बात नहीं होती। उस समय कवि के सम्मुख अनेक ऐसे भाव होते हैं जो भाषा के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित न होकर केवल भावरूप में उपस्थित होते हैं और फलतः उसके लिए उन्हें भाषा का रूप देना अवशिष्ट होता है

यदि प्रश्न भावों का न होकर विचारों का हो तब तो हम कह सकते हैं कि विचारों की उपस्थिति प्रायः भाषा के रूप में होती है। परन्तु भावों के साथ ऐसी बात नहीं। इसका कारण विचारों तथा भावों का स्वरूप-भेद है। विचार शान्त चेतना के परिणाम हैं, परन्तु भाव उद्वेलित चेतना के परिणाम हैं। निश्चल चेतना जब कोई परिणाम धारण करती है तब ज्ञान की द्योतक भाषा भी प्रायः उपस्थित हो जाती है। परन्तु इस ज्ञान के फलस्वरूप जब भावना जागृत होती है तब वह भाषा के रूप में नहीं होती। उदाहरणतः कवि जब किसी के प्रसन्न मुख को देखता है और उसे मुख की प्रसन्नता का ज्ञान होता है तब इस ज्ञान के साथ साथ इस ज्ञान की द्योतक भाषा का ज्ञान भी चलता रहता है। कवि जब मुख की आकृति देखता है और उसमें प्रसन्नता के भाव का दर्शन करता है तब उसे यह ज्ञात होता है कि मेरे सम्मुख जो यह आकृति विद्यमान है उसका नाम मुख है तथा इस आकृति में जो भाव विद्यमान है उसे प्रसन्नता कहते हैं। परन्तु मुख की प्रसन्नता के दर्शन के फलस्वरूप कवि को जो अनुभूति होती है उसकी उपस्थिति भाषा के रूप में नहीं होती। इस अनुभूति में ज्ञानांश के साथ उसकी तीव्रता का अंश भी मिला रहता है। यह तीव्रतांश भाषा के रूप में उपस्थित नहीं होता। अतः उसे भाषा के रूप में व्यक्त करना अवशिष्ट रहता है। इसी की पूर्ति के लिए कवि कहता है कि इसका मुख पुष्प के समान विकसित है। इसी प्रकार कवि जब भुजाओं में कठोरता, विशालता आदि धर्मों को देखता है तब उसके

हृदय में तदनुरूप भावना जागृत होती है। इस भावना में कठोरता, विशालता आदि धर्मों के ज्ञान के साथ इन धर्मों के अतिशय का ज्ञान भी मिला रहता है और यह ज्ञान सीधे अतिशयज्ञान के रूप में न होकर भावों के वेग के रूप में होता है। इसी की अभिव्यक्ति के लिए कवि कहता है कि ये भुजाएं वज्र के समान कठोर हैं, अर्गला के समान विशाल हैं इत्यादि। इस प्रकार अभिव्यक्ति में प्रस्तुत विधान के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। इस अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत उपर्युक्त उदाहरणों में पुष्प, वज्र तथा अर्गला आदि के चित्र हैं। अप्रस्तुत विधान अलंकार-विधान के अन्तर्गत आता है। अभिव्यक्ति के लिए इस अलंकार-विधान के अतिरिक्त शब्द की लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों का भी प्रयोग होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अन्तर है। परन्तु इस अन्तर के होते हुए भी इतना निश्चित है कि अभिव्यक्ति को अनुभूति से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। अनुभूति अभिव्यक्ति के मूल में रहती है तथा इस अभिव्यक्ति के साथ साथ चलती रहती है। इस प्रकार इन दोनों तत्त्वों को हम एक ही अनुभूति की दो स्थितियां कह सकते हैं जिनमें एक अमूर्त है तथा दूसरी मूर्त है। वह अनुभूति जो पहले अमूर्त होती है अभिव्यक्ति की अवस्था मे मूर्त होकर भाषा का रूप धारण करती है।

व्यवहार से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जब हमारे हृदय में भाव-सरणि प्रवाहित होती है तो हम उसे तदनुरूप भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। जब तक तदनुरूप भाषा हमें मिलती रहती है हमारी लेखनी अबाध गति से चलती रहती है और हमें एक आनन्द का अनुभव होता रहता है। परन्तु जब भावो के अनुरूप भाषा नहीं मिलती तब हमारी लेखनी की गति रुक जाती है और वह तभी आगे सरकती है जब भावों के अनुरूप भाषा मिल जाए।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में घनिष्ठता अवश्य है परन्तु दोनों में से हम किसी एक का लोप नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिकों ने अपनी काव्य की परिभाषा में प्रायः शब्द तथा अर्थ दोनों

का सन्निवेश किया है। भामह की काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" [1] से यह स्पष्ट है।

काव्य का साहित्य नाम इसी तथ्य का परिचायक है। साहित्य का अर्थ है 'सहितयोर्भावः'। इसमें शब्द तथा अर्थ दोनों की सत्ता आवश्यक है। यह ठीक है कि प्राचीन काल में साहित्य के लिए काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था और साहित्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र का प्रयोग होता था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन लोगों को उपर्युक्त सिद्धान्त का ज्ञान न हो। भामह आदि की काव्य की परिभाषाएं जहां इस सिद्धान्त की द्योतक हैं वहां कालिदास का निम्नलिखित श्लोक इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करता है:—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।"—रघुवंश १। १

कवि को दो वस्तुओं की आवश्यकता है—दर्शन की तथा वर्णन की। केवल दर्शन से व्यक्ति दार्शनिक होता है। कवि के लिए आवश्यक है कि दर्शन के अनुरूप वर्णन भी हो। कवि की अनुभूति जब तदनुरूप भाषा द्वारा अभिव्यक्त होती है तभी उसकी कवि संज्ञा होती है। कवि के लिए दृष्टि तथा सृष्टि का मञ्जुल सामञ्जस्य अपेक्षित है—

'दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥'

इत्यादि उपर्युक्त श्लोक इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं।

—साहित्यशास्त्र प्र० ख० पृ० २९७, २९८

१. भामहालंकार—१। १६

सहृदय को लक्ष्य करके काव्य के स्वरूप तथा उसमें साहश्य का विवेचन

अब तक काव्य में साम्य का जो विवेचन हुआ है वह कवि को लक्ष्य करके निर्धारित किए हुए काव्य के स्वरूप को सामने रखकर हुआ है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप का विवेचन सहृदय को लक्ष्य करके हुआ है। अतः अब हमें इसी दृष्टिकोण से काव्य के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करके उनमें साम्य सिद्ध करना है। सर्वप्रथम हम काव्य के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करते हैं

काव्य के पठन से सहृदय को विविध अनुभूतियां होती हैं। इन अनुभूतियों तक वह भाषा के माध्यम से पहुँचता है। भाषा के माध्यम से अनुभूतियों तक पहुँचने को हम अनुभूति तक पहुँचने की प्रक्रिया अथवा व्यापार कह सकते हैं। काव्य के स्वरूप-ज्ञान के लिए अनुभूति के स्वरूप-ज्ञान से पूर्व अनुभूति तक पहुँचने के इस व्यापार का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि यह व्यापार अनुभूति तक पहुँचने का साधन ही नहीं अपितु अनुभूति के स्वरूप का निश्चय भी करता है। अनुभूति तक पहुँचने का यह व्यापार शब्द-शक्ति के माध्यम से होता है।

शब्द-शक्तियां तीन प्रकार की मानी गई हैं—साक्षात् अर्थद्योतन की प्रक्रिया, साक्षात् अर्थ को गौण बनाकर अन्य अर्थ ध्वनित करने की प्रक्रिया तथा साक्षात् अर्थ को बाधित करके अन्य अर्थ लक्षित करने की प्रक्रिया। इनके नाम क्रमशः, अभिधा, व्यञ्जना तथा लक्षणा हैं।

काव्य के स्वरूप-विवेचन के लिए हम सर्वप्रथम अभिधा व्यापार को लेते हैं। काव्य में प्रयुक्त अभिधा व्यापार के लिए आवश्यक है कि उसमें वक्रता हो। लोक-व्यवहार में दृष्टिगोचर सीधा अभिधा-व्यापार वहां अपेक्षित नहीं। इसका कारण यह है कि काव्य में चारुता का होना आवश्यक है। यह चारुता लोक में प्रयुक्त सीधे व्यापार से नहीं अपितु वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार से ही सम्भव है। इसीलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है। काव्य में प्रयुक्त विभिन्न अलङ्कार इसी वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार के परिणाम हैं। इन अलङ्कारों को हम काव्य

का स्वरूप कह सकते हैं। अलङ्कार-सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

व्यञ्जना व्यापार चारुता का प्रमुख कारण है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तथा उसका सौन्दर्य इसी व्यापार के कारण है। इस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनिकार ने वाच्यार्थ से पृथक् बताकर महाकवियों की वाणी का उत्कृष्ट तत्त्व कहा है तथा इसकी तुलना स्त्री के लावण्य से की है जो उसके प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न वस्तु है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

ध्वन्यालोक १।४

प्रतीयमान अर्थ की चारुता का रहस्य व्यञ्जना व्यापार में निहित है। तथ्य यह है कि जो बात सीधे और स्पष्ट रूप से कह दी जाती है उसमें कोई चमत्कार नहीं होता। परन्तु जो बात छिपाकर कही जाती है वह चमत्कारोत्पादक होती है। इसीलिए कहा गया है कि 'गूढं सत् चमत्करोति।' व्यञ्जना व्यापार में यही होता है। अतः यह काव्य की आत्मा माना गया है। ध्वनि सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है। व्यञ्जना व्यापार शब्द के अर्थांश को लक्ष्य करके ही प्रवृत्त नहीं होता अपितु उसके उच्चारणांश को लक्ष्य करके भी प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में शब्द अथवा वाक्य के वर्णों से ध्वनि निकलती है। यदि वर्ण कोमल होते हैं तो कोमल भाव और यदि वर्ण कठोर हों तो कठोर भाव ध्वनित होता है। इसे आलङ्कारिकों ने वर्ण-ध्वनि कहा है (इसका निरूपण रस एवं अनुप्रास प्रकरण में किया जायगा)। रीतिसम्प्रदाय के शब्द-गुणों का अन्तर्भाव इसी वर्ण-ध्वनि में किया जा सकता है।

लक्षणा में रूढ़ि तथा प्रयोजन इन दो हेतुओं में से किसी हेतु का होना आवश्यक माना गया है। इसीलिए कहा गया है।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्,
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।

—काव्यप्रकाश २।१२

इन दो हेतुओं के अनुसार लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ि एवं प्रयोजनवती। जहां तक काव्य के स्वरूप का सम्बन्ध है लक्षणा का प्रथम भेद रूढ़ि विचारणीय नहीं। इसका कारण यह है कि काव्य के लिए चारुता की सत्ता आवश्यक है। परन्तु रूढ़ि लक्षणा में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं होता। उदाहरणतः हम रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' को लेते हैं। इसमें किसी प्रकार का चमत्कार नहीं। अतः यह काव्य का स्वरूप नहीं हो सकता।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की सत्ता आवश्यक है। चारुता की प्रतीति इसी प्रयोजन के कारण होती है। उदाहरणतः हम प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' को लेते हैं। यहां प्रयोजन के रूप में पावनत्वादिधर्म विद्यमान हैं। इनसे घोष में पवित्रता का बोध होता है। चमत्कार की सत्ता इसी पवित्रता के बोध में है। इस पवित्रता का ज्ञान व्यञ्जना व्यापार से होता है। इसीलिए कहा गया है कि 'प्रयोजनं हि व्यञ्जनाव्यापारगम्यम्'।[1] इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरणों में व्यञ्जना व्यापार की भी सत्ता रहती है और चमत्कार-प्रतीति इसी व्यञ्जना-व्यापार के कारण होती है। अतः काव्यस्वरूप की दृष्टि से प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण व्यञ्जना के उदाहरणों के अन्तर्गत किए जा सकते हैं। हम इन उदाहरणों को लक्षणामूला व्यञ्जना के उदाहरण कह सकते हैं। इसी व्यञ्जना को लक्ष्य करके ध्वनिकाव्य के भेदों में अविवक्षितवाच्यध्वनि नामक भेद माना गया है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के आधार पर काव्य का पृथक् स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं।

भाषा के माध्यम से सहृदय जिस अनुभूति तक पहुंचता है वह प्रधानतः दो प्रकार की होती है—भावविषयक तथा अन्यवस्तुविषयक। प्रथम में अनुभूति का विषय भाव होता है तथा द्वितीय में भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु। अनुभूति का यह विभाजन उसके विषय के आधार पर किया गया है उसके स्वरूप के आधार पर नहीं। स्वरूप की दृष्टि से तो समस्त अनुभूति भावनारूप ही होती है। उदाहरणतः जब हम भुजाओं में विशालता धर्म को देखते हैं और उसके फलस्वरूप हमें विशालता की अनुभूति होती है तब वह अनुभूति एक बाह्य धर्म के तटस्थ ज्ञान के रूप में न होकर भावना-

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५।

रूप में होती है। विशालता धर्म का ज्ञान हमारे हृदय को स्पन्दित करके उसमें गति उत्पन्न कर देता है और फलतः यह ज्ञान शुष्क ज्ञान न रहकर भावना में परिवर्तित हो जाता है। इतना होते हुए भी इस प्रकार की भावना का विषय बाह्य ही होता है। अतः हृदय का उसके साथ अधिक निकट सम्बन्ध नहीं होता। भावानुभूति में इसके विपरीत अनुभूति का विषय चित्त ही की कोई वृत्ति होती है। ये वृत्तियां रति, हास, शोक आदि हैं। इनका सद्भाव अनुभूति करने वाले के चित्त में होता है। यद्यपि काव्य में इनका वर्णन पात्रादि के सम्बन्ध में होता है तथापि यह निश्चित है कि ये वृत्तियां मनुष्यमात्र की सामान्य वृत्तियां होने के नाते पाठक के हृदय में भी स्थित रहती हैं। अतः पाठक को अपने ही हृदय में सामान्य रूप से स्थित इन भावों की अनुभूति होती है। साहित्यशास्त्र में इसे रस कहा गया है। यह रस काव्य का प्रसिद्ध स्वरूप है। रस सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

रस का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भावों से सम्बन्धित समस्त वर्णन रस के अन्तर्गत आता है। भावों के प्रसंग में किया हुआ अन्य वस्तुओं का वर्णन भी एक प्रकार से भावों का ही वर्णन है। अतः वह समस्त रस के अन्तर्गत आता है। काव्य में रसानुभूति अथवा भावानुभूति सदा व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। इसका कारण यह है कि रस वाच्य न होकर सदा व्यंग्य होता है। यदि रस वाच्य हो तो रसादि शब्दों के प्रयोग से उसकी अनुभूति सम्भव होनी चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। इसके विपरीत रसादि के वाचक शब्दों के अप्रयोग की दशा में भी विभावादि के प्रतिपादन से रस की अभिव्यक्ति होती है। इससे यही निश्चय होता है कि रस व्यंग्य है।[1] इसीलिए साहित्यशास्त्रियों ने रस को रसध्वनि कहा है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि रस की अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है तो रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप

---

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादि-शब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधान-द्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनासौ व्यंग्य एव। —काव्यप्रकाश पृष्ठ २१७।

मानने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि रसदशा में व्यञ्जना व्यापार होता तो अवश्य है, परन्तु इसका क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि वह सहृदय को लक्षित नहीं होता। सहृदय को ऐसा प्रतीत होता है मानों उसे वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ ही रसानुभूति हो रही है। इसका कारण यह नहीं कि व्यञ्जना व्यापार के क्रम का वहां पर अभाव है, अपितु उस व्यापार का लक्षित न होना ही इसका कारण है। इसी बात को लक्ष्य करके आलंकारिकों ने रस को अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहा है। इस समस्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि रस दशा में व्यञ्जना व्यापार की जो सिद्धि हुई है वह केवल विवेचक की विश्लेषण-बुद्धि के आधार पर हुई है। जहां तक सहृदय का सम्बन्ध है उसे इस प्रकार के व्यापार की प्रतीति नहीं होती अपितु केवल रस की प्रतीति होती है। इसलिए रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप मानना समीचीन है।

रसानुभूति में सहृदय को व्यञ्जना की तो प्रतीति नहीं होती, परन्तु एक अन्य तत्त्व की प्रतीति होती रहती है। यह तत्त्व औचित्य है। रसानुभूति के लिए आस्वादन की समरसता आवश्यक है और इस समरसता के लिए औचित्य का निर्वाह आवश्यक है। जैसे जैसे औचित्य का निर्वाह होता रहता है सहृदय को इसकी प्रतीति होती रहती है और इसके फलस्वरूप उसे रसानुभूति होती रहती है। जैसे ही इस औचित्य के निर्वाह में कोई बाधा आती है वह तुरन्त सहृदय का ध्यान रस से अन्यत्र आकृष्ट करती है और फलतः रसभंग हो जाता है। इसीलिए ध्वनि-कार ने कहा है:—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥" ध्वन्यालोक पृ० ३३०

इससे यह स्पष्ट है कि औचित्य रस के लिए अपेक्षित है। अतः यह भी काव्य का एक स्वरूप है। औचित्य सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

काव्य में जहां सहृदय को भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु की अनुभूति होती है वहां व्यञ्जना अथवा अभिधा में से कोई एक व्यापार कार्य करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वहां व्यञ्जना अथवा अलंकारों

में से किसी एक की सत्ता होती है। यह सत्ता केवल विवेचक की दृष्टि से ही नहीं होती अपितु सहृदय की दृष्टि से भी होती है। सहृदय को वहां व्यञ्जना अथवा अलंकार के चमत्कार की प्रतीति होती रहती है। और यह प्रतीति उसकी अनुभूति का आवश्यक अंग होती है। अतः ऐसे स्थल व्यञ्जना अथवा अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके लिए काव्य का पृथक् स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार औचित्य, रस, ध्वनि और अलंकार ये काव्य के विभिन्न स्वरूप हुए। हमें इनमें से एक एक को लेकर यह देखना है कि उनमें साम्य कहां तक स्थित है।

"औचित्य तथा सादृश्य"

औचित्य की परिभाषा क्षेमेन्द्र ने निम्न प्रकार से की है—

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।"

—औचित्यविचारचर्चा पृ० २ कारिका ७

यहां सदृश से तात्पर्य अनुकूल से है। अतः अनुकूलता को औचित्य कहा जा सकता है। अनुकूलता किसी वस्तु की अन्य वस्तु के प्रति होती है। इस प्रकार अनुकूलता में दो वस्तुएं होती हैं—एक वह जो अनुकूल होती है तथा अन्य वह जिसके प्रति प्रथम वस्तु अनुकूल होती है। उदाहरणतः केयूर तथा हाथ इन दो वस्तुओं को लें। इनमें केयूर को हाथ में धारण करना हाथ के अनुकूल है। यदि केयूर को हाथ में धारण न करके पैर में धारण किया जाता है तो वह पैर के अनुकूल न होकर प्रतिकूल होगा। अतः ऐसा आचरण हास्य का जनक होगा। क्षेमेन्द्र की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्॥'

—औचित्यविचारचर्चा पृ० १, २

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि केयूर को धारण करना हाथ के लिए अनुकूल क्यों है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि इसके दो हेतु हैं। प्रथम है हाथ तथा केयूर में सादृश्य तथा द्वितीय है लोक-व्यवहार।

हाथ तथा केयूर में एक धर्म साधारण है। वह है गोलाई की समानता। हाथ में केयूर का विन्यास दोनों की इसी समान गोलाई के कारण किया जाता है। यदि केयूर तथा हाथ की गोलाई में यह समानता न होती तो प्रथम का द्वितीय में विन्यास उचित न होता। उदाहरणतः केयूर तथा

पैर की गोलाई में समानता नहीं होती। अतः प्रथम का द्वितीय में विन्यास औचित्य का जनक न होकर अनौचित्य का जनक होता है।

द्वितीय हेतु है लोक-व्यवहार। हम लोक में सदा केयूर का विन्यास हाथ में ही देखते हैं। अतः इस प्रकार का आचरण हमें उचित प्रतीत होता है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि औचित्य की लोकव्यवहारमूलकता भी एक प्रकार से सादृश्यमूलकता में पर्यवसित होती है। लोक में वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धविशेष को निरन्तर देखने से हमारे मस्तिष्क में उन वस्तुओं के उस सम्बन्ध का एक चित्र अंकित हो जाता है। अतः हम जब उन वस्तुओं को पुनः प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं तब उन्हें उसी पूर्व रूप में सम्बद्ध देखना चाहते हैं। इस प्रकार हमारी यह इच्छा होती है कि प्रत्यक्ष चित्र तथा पूर्व अंकित चित्र में साम्य हो। उदाहरणतः हाथ तथा केयूर के सम्बन्ध को हम लोक में नित्यप्रति देखते हैं। इससे ऐसा ही चित्र हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। अतः हम जब इन्हें पुनः लोक में देखते हैं तो इस अंकित चित्र के समान ही देखना चाहते हैं। इस अंकित चित्र के समान प्रत्यक्ष चित्र को देखकर एक प्रकार से हमारी अज्ञात इच्छा पूर्ण होती है। इससे प्रत्यक्ष चित्र हमें उचित प्रतीत होता है तथा हमें एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है।

औचित्य के द्वितीय हेतु लोक-व्यवहार का पर्यवसान ही सादृश्य में नहीं होता अपितु उसकी प्रवृत्ति भी सादृश्य को ध्यान में रखकर होती है। लोक में हाथ तथा केयूर का सम्बन्ध स्वतः अथवा स्वेच्छा से ही स्थापित नहीं हो जाता, परन्तु उनकी पारस्परिक समानता ही उनके इस सम्बन्धस्थापन का कारण है। इस सम्बन्धस्थापन से इन वस्तुओं का इस रूप में सम्बद्ध चित्र हमारे मस्तिष्क में अंकित होता है तथा इस चित्र से साम्य का निर्वाह प्रस्तुत चित्र के औचित्य का हेतु है। इस प्रकार हाथ तथा केयूर के प्रस्तुत चित्र का औचित्य जिस पूर्व-अंकित चित्र के साम्य पर आश्रित है वह पूर्वःचित्र स्वयं साम्य पर आश्रित है। अतः हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु लोक-व्यवहार स्वयं सादृश्य पर आश्रित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु हम चाहे हाथ तथा केयूर के सादृश्य को मानें चाहे लोक-व्यवहार को यह निश्चित है कि प्रत्येक दशा में इस औचित्य के मूल में सादृश्य स्थित है। वस्तुस्थिति यह है कि विश्लेषण की दृष्टि से तो प्रत्येक दशा में इन दोनों वस्तुओं के औचित्य के मूल में सादृश्य स्थित है, परन्तु जहां तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे इस औचित्य के मूल में सादृश्य पर आश्रित लोक-व्यवहार की पृथक् रूप से भी प्रतीति होती है। आरम्भ में दर्शक को इन दोनों वस्तुओं के औचित्य के मूल में केवल सादृश्य की प्रतीति होती है परन्तु इस सादृश्य के फलस्वरूप दोनों वस्तुओं को अनेक बार इस रूप में सम्बद्ध देखने के बाद जब वह इनको पुनः इसी रूप में सम्बन्धित देखता है तब उसे उनके औचित्य के मूल में उनका इस रूप में पूर्व भूयोदर्शन भी हेतु के रूप में प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत रूप का पूर्व भूयोदर्शन ही वस्तुतः लोकव्यवहार है।

काव्य के औचित्य के मूल में भी सादृश्य तथा लोकव्यवहार ये दो हेतु विद्यमान हैं। काव्य से सम्बन्धित सादृश्य का अर्थ है काव्य के किसी अंश का अन्य अंश अथवा अंशों से साम्य। यह साम्य काव्य के लिए परम आवश्यक है। काव्य के आत्मभूत रस की निष्पत्ति इसी साम्य के निर्वाह पर आश्रित है। काव्य में औचित्य का निरूपण रस को लक्ष्य करके किया गया है। अतः काव्यगत औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि काव्य के समस्त अंग प्रस्तुत रस से सम्बद्ध हों। प्रस्तुत रस से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के समस्त अङ्गों में रस-दृष्टि से साम्य होना स्वाभाविक है।

औचित्य का दूसरा हेतु है लोक-व्यवहार। भरतमुनि ने इस लोक-व्यवहार को काव्यगत औचित्य का आधार माना है। उनकी निम्नलिखित उक्तियां इसकी समर्थक हैं:—

"एवं लोकस्य या वार्ता नानावस्थान्तरात्मिका।
सा नाट्ये संविधातव्या नाट्यवेदविचक्षणैः॥" १२६
"यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥" १२७

—नाट्यशास्त्र २५। १२६, १२७।

हाथ तथा केयूर के औचित्यसम्बन्धी पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि इस लोक-व्यवहार का पर्यवसान भी सादृश्य में होता है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् काव्यगत औचित्य के प्रथम हेतु सादृश्य को तो स्वीकार करते हैं परन्तु इसके द्वितीय हेतु लोकव्यवहार को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह लोक-व्यवहार से साम्य का निर्वाह करे। ये विद्वान् काव्य के लिए केवल एक साम्य का निर्वाह आवश्यक समझते हैं और वह है उसका आन्तरिक साम्य अथवा औचित्य। इसे वे Internal consistency कहते हैं। इसके अतिरिक्त उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि यथार्थ जगत् से भी उसका साम्य हो। ये विद्वान् काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त (Creative theory) को मानने वाले हैं। इनके अनुसार काव्य का उद्देश्य जगत् का यथार्थ चित्र न खींच कर कल्पना के आधार पर उसका नव निर्माण करना होता है। अतः लोकव्यवहार से साम्य का निर्वाह उसके लिए अपेक्षित नहीं।

इन विद्वानों का उपर्युक्त सिद्धान्त वस्तुतः लोकव्यवहार से साम्य के निर्वाहसम्बन्धी सिद्धान्त पर विशेष प्रभाव नहीं डालता। लोक-व्यवहार के हम प्रधानतः दो भेद कर सकते हैं-भावरूप तथा आचरण-रूप अथवा घटनारूप। भाव-रूप लोक-व्यवहार सब मनुष्यों तथा सब कालों में समान रूप से देखने को मिलता है। देश तथा काल की सीमाएं इस पर प्रभाव नहीं डालतीं। रति, हास, शोक आदि जो सामान्य भाव आदिम युग में विद्यमान थे वे अब भी उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अतः काव्य में इनका इसी रूप में वर्णन सम्भव है। इनमें वहां किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। हमारे काव्य में तो भावों के इस निर्वाह की ओर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे काव्यों का उद्देश्य प्रधानतः रसनिष्पत्ति रहा है जो भावादि के सार्वकालिक रूप के चित्रण पर आश्रित है। रसपरिपूर्ण काव्यों में Internal consistency भी भावादि के इस सम्यक् निर्वाह के फलस्वरूप ही आती है।

लोक-व्यवहार का दूसरा रूप है आचरण, घटनाएं आदि। आचरण, घटनाओं आदि का सम्बन्ध पात्रों से होता है। आचरण तो पात्रों के होते ही हैं, घटनाओं में से भी अनेक घटनाएं आचरण के अन्तर्गत चली

जाती हैं। यह आचरण देश-विशेष तथा काल-विशेष में किया जाता है। इस देश-विशेष तथा काल-विशेष में पात्र इस प्रकार का आचरण करके भावों को प्रकाशित करते हैं। काव्य में वर्णित इस आचरण के लिए लोक-व्यवहार का ध्यान रखना आवश्यक है। इस आचरण के औचित्य का निर्णय पात्रों के स्वरूप तथा देशकालादि की परिस्थितियों को देखकर किया जाता है। पात्रों के स्वरूप पर आश्रित आचरण के औचित्य को संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों ने प्रकृत्यौचित्य कहा है तथा भावौचित्य के प्रसङ्ग में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उदाहरण के लिए क्रोध मनुष्यों का एक सामान्य भाव है, परन्तु पात्रों के भेद से इस भाव को प्रकाशित करने वाले आचरण में भेद सम्भव है। पात्र दिव्य, अदिव्य, तथा दिव्यादिव्य आदि अनेक प्रकार के माने गए हैं। एक दिव्य पात्र क्रोध का प्रकाशन जिस आचरण के द्वारा करेगा वह आचरण साधारण पात्र में सम्भव नहीं। शिव एक दिव्य पात्र हैं। वे क्रोध का प्रकाशन बिना किसी भ्रूकुटि आदि विकार के कर सकते हैं। परन्तु एक साधारण पात्र ऐसा नहीं कर सकता। अतः क्रोधप्रकाशक आचरण का वर्णन करते समय पात्रों के इस स्वरूप को ध्यान में रखना आवश्यक है।[1]

यदि लोक में दृष्टिगोचर इस आचरण की काव्य में वर्णित आचरण के समय उपेक्षा की जाती है तो अनौचित्य का जन्म होगा और हमें काव्य में वर्णित आचरण असत्य प्रतीत होगा। काव्य के आस्वादन के लिए यह आवश्यक है कि उसके वर्णनों में हमें पूर्ण विश्वास हो। काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त को मानने वाले कहते हैं कि काव्य में विश्वासोत्पादन (Make believe) की क्षमता होती है। इसके फलस्वरूप हम काव्य के वर्णन-सम्बन्धी समस्त अविश्वासों का परित्याग (Suspension of disbelief) कर देते हैं। इन विद्वानों का यह मत कुछ ही अंशों में सत्य है। यह ठीक है कि काव्य में विश्वासोत्पादन की शक्ति होती है। परन्तु इसकी एक सीमा होती है। इस सीमा का उल्लंघन करने पर हमें काव्य के वर्णन में

१. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च.........इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादि-विकारवर्जितः क्रोधः सद्यःफलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लंघनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्।

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ४४१-४४४।

अविश्वास हो जाता है। काव्य उसी घटना अथवा आचरण में हमारा विश्वास उत्पन्न कर सकता है जो लौकिक दृष्टि से सम्भव है। जो आचरण लोक में सम्भव नहीं अथवा जो लोकानुभव द्वारा बाधित है उसे हम सत्य मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हो सकते। यदि काव्य इस लोकानुभव की उपेक्षा करके आश्चर्य एवं अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय घटनाओं एवं आचरणों का वर्णन करता है तो उससे हमारी कुतूहल-वृत्ति भले ही जागृत हो हमारे हृदय को वह प्रभावित नहीं कर सकता और फलतः इस दशा में रस-निष्पत्ति सम्भव नहीं।

उपर्युक्त आचरण एवं घटनाओं का वर्णन जिस देश तथा काल की सीमाओं में किया जाता है उस देश तथा काल की परिस्थितियों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। काव्य को पढ़ते समय सहृदय को यह ज्ञात होता है कि जो घटनाएं उसके सामने काव्य में घट रही हैं वे अमुक देश तथा अमुक काल में घट रही हैं। अतः उस देश एवं काल की परिस्थितियों से साम्य का निर्वाह उस काव्य के लिए अपेक्षित है।

देशविशेष तथा कालविशेष की परिस्थितियों से साम्य के निर्वाह का यह अर्थ नहीं कि कवि उस देश तथा काल में घटी हुई घटनाओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करे। परन्तु इससे केवल इतना अभिप्राय है कि कवि जिस समय की घटनाओं का वर्णन करे उनका तत्कालीन परिस्थितियों में घटित होना सम्भव होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वे घटनाएं उस काल में वस्तुतः घटित ही हुई हों।

कवि द्वारा अपनाई हुई वस्तु चाहे ऐतिहासिक हो चाहे काल्पनिक कवि उसका वर्णन करते समय इतिहासकार का रूप कभी धारण नहीं करता। उत्प्रेक्ष्य वस्तु के वर्णन में तो कवि के लिए इतिहासकार बनने का प्रश्न ही नहीं उठता ऐतिहासिक वस्तु के वर्णन में भी कवि कवि के रूप में ही रहता है। वह ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग अवश्य करता है परन्तु वहीं तक जहां तक वे उसके प्रकृत उद्देश्य रस-निरूपण में सहायक होते हैं। जैसे ही कोई ऐतिहासिक घटना अथवा घटनांश प्रकृत रस का पोषक न होकर विरोधी प्रतीत होता है वह उसका परित्याग करने तथा अन्य रसानुकूल घटना के निर्माण में स्वतन्त्र है। इतना होते हुए भी कवि उस देश तथा काल की परिस्थितियों की उपेक्षा करके मनमाना आचरण नहीं कर सकता।

रस में सादृश्य

रस की परिभाषा भरतमुनि ने इस प्रकार की है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" नाट्यशास्त्र ६ । ३३
इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के उचित संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक रस के विभावादि भिन्न भिन्न होते हैं। अतः रसनिष्पत्ति के लिए आवश्यक है कि उन्हीं विभावादि का संयोग हो जो प्रस्तुत रस से सम्बद्ध हों। यदि इनमें से कतिपय विभावादिक प्रस्तुत रस से सम्बद्ध न होकर अन्य रस से सम्बद्ध होंगे तो उनका उस स्थान पर सन्निवेश अनौचित्य का जनक होगा और फलतः रसभंग होगा। यही कारण है कि औचित्य का निर्वाह रस के लिए परम आवश्यक माना गया है। आनन्दवर्धन आदि ने रसनिरूपण के समय विभावादिकों के औचित्य का विस्तृत वर्णन इसी बात को लक्ष्य करके किया है। आनन्दवर्धन की निम्नलिखित उक्ति रस के लिए औचित्य के महत्त्व की स्पष्ट द्योतक है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥'

ध्वन्यालोक पृ० ३३०

रस में विद्यमान इस औचित्य का निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। विवेचक की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से। विवेचक की दृष्टि से रस में औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसे रस में सर्वत्र किसी न किसी रूप में औचित्य दिखाई देता है। परन्तु सहृदय के साथ ऐसी बात नहीं। उसके औचित्य का क्षेत्र सीमित है। वस्तुतः उसके लिए औचित्य वहीं है जहां उसे उसकी प्रतीति हो। यह आवश्यक नहीं कि उसे औचित्य उन सब स्थानों पर प्रतीत हो जहां विवेचक उसकी सत्ता सिद्ध कर सकता है। दूसरे सहृदय को जहां औचित्य की प्रतीति होती है वह भी केवल आरम्भिक होती है। उसकी सत्ता रस-प्रवाह में लीन हो जाती है और केवल रसानुभूति शेष रह जाती है।

हम पहले विवेचक की दृष्टि से इस औचित्य का निरूपण करते हैं। इस औचित्य के लिए दो तत्त्वों की आवश्यकता है—विभावादि का लोक-व्यवहार से सादृश्य तथा विभावादि में पारस्परिक सादृश्य। पहला तत्त्व इस प्रकार है:—

लोक में किसी स्थायी भाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं वे ही उस स्थायी भाव से सम्बद्ध रस में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी बन जाते हैं। उदाहरणत: लोक में स्थायी भाव रति के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होंगे वे ही काव्य अथवा नाटक में शृंगार रस के विभावादि बन जाएंगे। मम्मट की निम्नलिखित उक्ति इसकी समर्थक है:—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटचकाव्ययोः।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः,
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥'

—काव्य प्रकाश सू० ४३

अतः विभावादि के औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि लोक-व्यवहार से उनका साम्य हो।

लोक-व्यवहार से विभावादि के इस साम्य का निर्वाह करते समय यह भी आवश्यक है कि पात्रादि के भेद से लौकिक कारण, कार्य आदि में जो भेद उत्पन्न होता है उस भेद का भी ध्यान विभावादिकों में रखा जाए। लोक में पात्र दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तथा उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक प्रकार के होते हैं। पात्रों के इस भेद के अनुसार उनके व्यवहार में भी भेद होता है। अत: काव्य में विभावादिकों का निरूपण करते समय इस भेद का ध्यान रखकर उससे साम्य का निर्वाह भी आवश्यक है। आनन्दवर्धनादि ने प्रकृत्यौचित्य के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है।

अब औचित्य के दूसरे तत्त्व को लेते हैं। इसके अनुसार सब विभावादिकों में एक साम्य का होना आवश्यक है। प्रथम साम्य विभावा-दिकों तथा लोक-व्यवहार की समानता के रूप में था। परन्तु यह साम्य विभावादि में एक समान तत्त्व विद्यमान होने के कारण उन सबके सादृश्य

के रूप में होता है। विभावादि में से प्रत्येक का सम्बन्ध एक समान चित्तवृत्ति से होता है। यह चित्तवृत्ति उन सबके मूल में रहकर उनके सादृश्य का कारण होती है।

विभावादि के प्रतिपादन के लिए कवि को किसी कथासूत्र अथवा वस्तु का अवलम्बन करना पड़ता है। यह वस्तु प्रधानतः दो प्रकार की होती है—प्रसिद्ध तथा कविकल्पित। इन दोनों का अवलम्बन वह विभावादिकों में विद्यामन साम्य को लक्ष्य करके करता है। जहां वस्तु कविकल्पित होती है वहां तो उसका उस रूप में अवलम्बन स्पष्टतः इस साम्य को लक्ष्य करके होता ही है, प्रसिद्ध वस्तु के अवलम्बन की दशा में भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। यह सम्भव है कि प्रसिद्ध वस्तु का कुछ अंश उपर्युक्त साम्य से मेल न खाए। ऐसी दशा में कवि उस अंश का परित्याग करने तथा उसके स्थान पर नए अंश की उद्भावना करने में स्वतन्त्र है। आनन्द-वर्धन का यही मत है।[1]

रसाभिव्यक्ति के लिए विभावादि का प्रतिपादन प्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत आता है क्योंकि इनका रस से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त रस में अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान अलंकारादि के रूप में होता है। इसका उद्देश्य प्रस्तुत विधान अथवा विभावादि में चारुता लाना होता है। उदाहरणतः मुख यदि आलम्बन है तो उसका चन्द्र से सादृश्य उसमें चारुता का जनक है। इस अप्रस्तुत विधान के लिए भी यह आवश्यक है कि वह उसी चित्तवृत्ति का परिणाम हो जो चित्तवृत्ति प्रस्तुत विधान के मूल में है। जहां कवि इस चित्तवृत्ति से हटकर अन्य प्रयत्न को अपनाता है वहां उस प्रयत्न से उत्पन्न अलंकार असंगत हो जाता है और वह प्रस्तुत का उपकारक नहीं रहता। यही कारण है कि आलंकारिकों ने रस में उन्हीं अलंकारों का विधान उपयुक्त माना है जो अपृथक् यत्न से उत्पन्न हों।[2]

---

१. इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयो यथा कालिदास—प्रबन्धेषु। कविना सर्वात्मना रस-परतन्त्रेण भवितव्यम्। न कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणे किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः। ध्वन्यालोक पृ० ३३५

२. "रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्यालोक २। १६

रस की निष्पत्ति के लिए जहां यह आवश्यक है कि समस्त भावों में साम्य हो वहां यह भी आवश्यक है कि भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा के उच्चारण में भी साम्य हो। भाषा के उच्चारण तथा भाव का यह साम्य इन दोनों स्थितियों में विद्यमान स्नायुमण्डल की अवस्था की समानता के कारण होता है। भावानुभूति तथा उस अनुभूति को भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने के समय स्नायुमण्डल की एक ही अवस्था रहती है। अतः इन दोनों में सादृश्य होता है। भावानुभूति के समय चित्त की अवस्थाएं प्रधानतः दो प्रकार की होती हैं—द्रुत तथा दीप्त। इन अवस्थाओं में स्नायुमण्डल भी क्रमशः शिथिल तथा उत्तेजित हो जाता है। स्नायुमण्डल की शिथिलता की अवस्था में भाषण अवयव भी वैसे ही बन जाते हैं। इस स्थिति में जो भाषा निकलती है वह कोमल होती है। स्नायुमण्डल की उत्तेजना की अवस्था में भाषण-अवयवों में तनाव आ जाता है। इस स्थिति में जो भाषा निकलती है वह कठोर होती है। इससे यह स्पष्ट है कि कोमल भाषा के उच्चारण तथा चित्त की द्रुत अवस्था के समय स्नायुमण्डल की एक जैसी अवस्था होती है तथा कठोर भाषा के उच्चारण तथा चित्त की दीप्तावस्था के समय भी स्नायुमण्डल की अवस्था एक जैसी होती है। अतः इस प्रकार की चित्तवृत्ति तथा इस प्रकार की भाषा में सादृश्य होता है।

आलंकारिकों ने भाव तथा भाषा के इसी सादृश्य को लक्ष्य करके वर्णों का रसश्च्युतः तथा रसच्युतः[1] इन दो भागों में विभाजन किया है। जहां भाव तथा वर्णों में सादृश्य होता है वहां वर्ण रसश्च्युतः होते हैं तथा जहां इनमें सादृश्य नहीं होता वहां वर्ण रसच्युतः होते हैं।

अब हम विभावादिकों में औचित्यप्रतीति का निरूपण सहृदय की दृष्टि से करते हैं। सहृदय को इस औचित्य का ज्ञान इन विभावादिकों के लोकव्यवहार से साम्य के कारण होता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

---

१. "शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृंगारे तेन वर्णाः रसच्युतः॥
त एव तु निवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसश्च्युतः॥" ध्वन्यालोक २।३।४

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् १—२७

यहां अनुरागोत्पत्ति की अवस्था में विद्यमान शकुन्तला की अनुराग-सूचक चेष्टाओं का वर्णन है। उपर्युक्त अवस्था में विद्यमान स्त्री-सामान्य की चेष्टाओं का चित्र सहृदय के मन में पहले से अंकित रहता है। अतः जब वह इस अवस्था में विद्यमान शकुन्तला की उपर्युक्त चेष्टाओं का वर्णन पढ़ता है तो पूर्व अंकित चित्र के साथ पूर्ण समता के कारण प्रस्तुत वर्णन में उसे औचित्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार यह औचित्यप्रतीति साम्य-प्रतीति के कारण होती है।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का पूरक माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के द्वारा आनन्द ने रस के किसी विरोधी सिद्धान्त की स्थापना नहीं की, परन्तु रस सिद्धान्त के दोषों को दूर करके उसे स्थिरता प्रदान की।[1] ध्वनिवादियों ने रस की सत्ता स्वीकार की तथा इसे ध्वनि का ही एक भेद माना। रस के अतिरिक्त इन्होंने ध्वनि के दो भेद और माने। ये वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि हैं।[2] ध्वनि के इन तीनों भेदों में इन्होंने प्रधानता रसध्वनि को ही दी। ध्वनि के जो दो अन्य भेद हैं उन्हें केवल गौण स्थान दिया तथा इनका पर्यवसान रसध्वनि में ही माना। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इनके अनुसार रसध्वनि ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। अभिनव तथा आनन्द का यही मत है।[3]

समस्त ध्वनियों का पर्यवसान रस में होने के कारण रस में विद्यमान सादृश्य का सद्भाव इन ध्वनियों में मानना सर्वथा उचित है। अतः यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार रस में सादृश्य विद्यमान है उस प्रकार ध्वनि में भी वह विद्यमान है।

1. "By his theory of Dhvani he did not propound any rival doctrine to that of Rasa, but only placed it on a firmer basis by removing its defects".

—Theories of Rasa and Dhvani P. 78.

२. "संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः। व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि। किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलंकाररूपम्।"

—काव्य प्रकाश पृ० २१६

३. "तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ-इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्॥"

"प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्।"

—ध्वन्यालोक पृ० ८६, ९०

ध्वनि में सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि ध्वनि सिद्धान्त तथा रस सिद्धान्त के साम्य को लेकर की गई है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि ध्वनि में सादृश्य विद्यमान है।

ध्वनि में शब्द अथवा अर्थ से किसी अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। जहां यह अभिव्यक्ति शब्द से होती है वहां शब्द का वाच्यार्थ गौण हो जाता है तथा जहां यह अभिव्यक्ति अर्थ से होती है वहां वह अर्थ स्वयं गौण हो जाता है। ध्वनि की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः"
—ध्वन्यालोक १—१३

व्यंग्यार्थ की इस व्यक्ति की प्रक्रिया में साम्य का भी स्थान है। यह अवश्य है कि प्रतिभा की निर्मलता के अभाव में व्यंग्यार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं, परन्तु जहां प्रतिभा की निर्मलता के द्वारा इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है वहां वह साम्य का भी आश्रय लेता है। व्यञ्जना के विभिन्न भेदों तथा उनके उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।

व्यञ्जना के दो भेद किए गए हैं—शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के पुनः दो भेद किए गए हैं। ये अभिधामूला व्यञ्जना तथा लक्षणामूला व्यञ्जना हैं।

लक्षणामूला व्यञ्जना में फलविशेष अथवा प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। उदाहरणतः 'गंगायां घोषः' में 'गंगातटे घोषः' लक्ष्यार्थ है तथा घोष में पावनत्वादिधर्म प्रयोजन के रूप में हैं। इन धर्मों का ज्ञान व्यञ्जना के द्वारा होता है।[1] अतः ये व्यंग्य हैं। इन धर्मों की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इनकी यह प्रतीति गंगा तथा घोष के गुणों में आंशिक सादृश्यज्ञान का आश्रय अवश्य लेती है। गंगा पर स्थित होने के कारण घोष में गंगा के पावनत्वादि धर्मों का सद्भाव प्रतीत होता है। गंगा में पावनत्वादि धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अतः घोष में इन धर्मों का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

---

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥ —काव्यप्रकाश सू० २४

अभिधामूला व्यञ्जना में अनेकार्थक शब्दों का वाचकत्व संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो जाता है। परन्तु फिर भी अवाच्य अर्थ अथवा अर्थों की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्" ॥
काव्यप्रकाश पृष्ठ ६८

यहां प्रकरण के अनुसार वाच्यार्थ राजा से सम्बद्ध है परन्तु फिर भी हस्ती से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार पर आश्रित है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह प्रतीति शब्दों के द्वयर्थक होने के फलस्वरूप होती है। शब्दों के दो अर्थों में से एक अर्थ जो वाच्य नहीं है वही यहां व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त होता है। इस प्रकार व्यन्जना के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है वह कोई नवीन अर्थ नहीं अपितु शब्दों का एक अर्थ ही व्यंग्यार्थ का रूप धारण करता है। अतः शब्दों का एक अर्थ तथा व्यंग्यार्थ यहां एक अथवा सर्वथा समान हैं।

अप्पयदीक्षित के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में द्वितीय अर्थ व्यन्जना का विषय न होकर अभिधा का ही विषय है। अतः यहां दोनों अर्थ अभिधेय हैं। अप्पयदीक्षित के अनुसार ऐसे स्थलों में ध्वनि होती अवश्य है परन्तु वह प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ के सादृश्य को लक्ष्य करके होती है अप्रस्तुत अर्थ को लक्ष्य करके नहीं होती।[2] इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में व्यंग्यार्थ राजा तथा हस्ती का सादृश्य है। हस्ती से सम्बद्ध अर्थ को यहां व्यंग्यार्थ के अन्तर्गत मानना उचित नहीं क्योंकि वह तो अभिधा का ही विषय है।

१. "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥" काव्यप्रकाश सू० ३२।

२. "यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणं शब्दशक्तिमूलं ध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चस्तत्तु प्रकृताप्रकृताभिधानमूलस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यंग्यत्वाभिप्रायं न त्वप्रकृतार्थस्यैव व्यंग्यत्वाभिप्रायम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ७६।

अप्पयदीक्षित के इस व्यंग्यार्थ का तो स्वरूप ही सादृश्य है। अतः यह अर्थ सादृश्य के व्यंग्य रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आर्थी व्यञ्जना में वक्ता श्रोता आदि की विशिष्टता के कारण वाच्यार्थ से एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"मातर्गृहोपकरणमद्य नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भूण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥"

काव्यप्रकाश पृष्ठ २८।

यहां व्यंग्यार्थ स्वैरविहार की इच्छा है। इसीलिए मम्मट लिखते हैं:—
"अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ २९।

यहां वक्ता एक चरित्रहीन स्त्री है। अतः उसका आचरण निन्दनीय है। उपर्युक्त व्यंग्यार्थ भी ऐसे ही आचरण की ओर सङ्केत करता है। अतः चरित्रहीन स्त्री के आचरण तथा उपर्युक्त व्यंग्यार्थ में समानता है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यंग्यार्थ वक्ता के आचरण से साम्य के आधार पर व्यक्त होता है।

ध्वनि में सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहां तक पाठक का सम्बन्ध है उसे भी ध्वनि में कुछ अंशों तक यह सादृश्यप्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया का अङ्गमात्र होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया में लीन हो जाती है और केवल ध्वनिजन्य चमत्कार शेष रह जाता है।

१. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ —काव्यप्रकाश सू० ३७।

द्वितीय अध्याय

अलंकारों के मूल में सादृश्य

अलंकारों के मूल में सादृश्य-ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हमें अलंकारों के आधार अथवा आश्रय का ज्ञान हो। इसका कारण यह है कि सादृश्य इसी आधार में निवास करके अलंकारों का मूल बनता है तथा उसके रूप का निर्माण इसी आधार के अनुसार होता है। स्वतः सादृश्य का कोई मूर्त रूप नहीं होता। इसके मूर्त रूप के लिए उन वस्तुओं के रूप का ज्ञान आवश्यक है जो सादृश्य का आधार बनकर उसे मूर्त रूप प्रदान करती हैं। आलंकारिकों ने इस दृष्टि से अलंकारों के मुख्यतः दो आधार पृथक् पृथक् बताए हैं। ये शब्द तथा अर्थ हैं। इन पर आश्रित अलंकार क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार होते हैं। कतिपय आलंकारिकों ने शब्द तथा अर्थ दोनों को संयुक्त रूप से भी आधारों का एक भेद माना है तथा इस पर आश्रित अलंकार को उभयालंकार कहा है।[1] परन्तु इसको मानने वाले बहुत कम हैं। अतः हम केवल शब्दालंकार तथा अर्थालंकार इन दो अलंकार-भेदों को मानकर चलते हैं जो क्रमशः शब्द तथा अर्थ पर आश्रित हैं।

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शब्द तथा अर्थ का क्या स्वरूप मानकर आलंकारिक इन्हें अलंकारों का पृथक् पृथक् आधार निश्चित करते हैं। शब्द का सामान्य अर्थ लेने पर तो शब्द तथा अर्थ ये दोनों पृथक् पृथक् आधार सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि शब्द के

---

१. यह हमें अग्निपुराण में मिलता है:—

"शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः॥"

—अग्निपुराण ३४५-१

भोज ने अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण करते हुए इसे स्वीकार किया है:—

"शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान् कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१

सामान्य रूप में अर्थ का भी अन्तर्भाव हो जाता है । शब्द में दो अंश होते हैं—उच्चारणांश तथा अर्थांश । इस प्रकार शब्द का यह अर्थ लेने पर अर्थ एक पृथक् आधार नहीं रहता, परन्तु आलंकारिकों ने इसे पृथक् आधार माना है । अतः इस दशा में हमें शब्द का वही रूप लेना चाहिए जो अर्थ से इसकी पृथक्ता का द्योतक हो । यह रूप उसका उच्चारणांश ही हो सकता है । यह ध्वनि-स्वरूप है तथा कर्ण का विषय है । अर्थ इसके विपरीत बुद्धि का विषय है । आलंकारिकों ने अलंकारों के आधार का विवेचन करते हुए शब्द तथा अर्थ के इस रूप का उल्लेख तो नहीं किया है परन्तु आधार के विषय में उनके द्वारा अपनाए हुए शब्द तथा अर्थ के पृथक्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उन्हें इनका यही अर्थ गृहीत है और यदि किसी आलंकारिक को यह अर्थ गृहीत नहीं तो उसका वह मत युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता ।

अलंकार-विभाजन के लिए शब्द तथा अर्थ का उपर्युक्त अर्थ लेने पर यह स्पष्ट है कि जो अलंकार उच्चारण-चमत्कार पर आश्रित होता है वह शब्दालंकार होता है तथा जो अलंकार अर्थ-चमत्कार पर आश्रित होता है वह अर्थालंकार होता है । अलंकार-ज्ञान का आधार आश्रयाश्रयिभाव है ।[1] जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलंकार कहा जाता है । उद्भट, रुय्यक आदि ने इसी आश्रयाश्रयिभाव को अलंकार-ज्ञान का आधार माना है । अलंकार के आश्रय को जानना सर्वथा सीधा और स्पष्ट है । यदि हमें अलंकार-विशेष के स्वरूप का ज्ञान है तो यह निश्चित है कि हमें उसके आधार का भी ज्ञान है । इसका कारण यह है कि अलंकार के स्वरूप में उसके आधार का स्वरूप भी मिला रहता है । उदाहरणतः शब्दालंकार के स्वरूप में उसका आधार उच्चारण-स्वरूप शब्द विद्यमान रहता है ।

अलंकार के आधार-ज्ञान के इस स्पष्ट सिद्धान्त का निराकरण करते हुए मम्मट ने इसके स्थान पर अन्वयव्यतिरेकभाव की स्थापना की है । "यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः, यदभावे यदभावो व्यतिरेकः" यह अन्वय तथा व्यतिरेक का लक्षण है । अतः यदि कोई वस्तु किसी वस्तु के रहने पर रहे तथा न

१. "आश्रयाश्रयिभावेनालंकार्यालंकारभावस्य लोकवद्‍व्यवस्थानात्"
सर्वस्व पृ० ११४

रहने पर न रहे तो वह उस अन्य वस्तु पर आश्रित होती है। उदाहरणतः दण्डचक्रादि के भाव में घड़े की उत्पत्ति होती है। यह अन्वय है। दण्डचक्रादि के अभाव में घड़े की उत्पत्ति नहीं होती। यह व्यतिरेक है। इस प्रकार घट का भाव दण्डचक्रादि के भाव पर आश्रित है। दण्डचक्रादि घट के कारण हैं तथा घट उनका कार्य है। अलंकारों के आधार का ज्ञान भी इसी प्रकार होता है। यदि शब्द-विशेष के भाव में अलंकार रहे तथा उसके अभाव में न रहे तो वह अलंकार उस शब्द पर आश्रित होता है तथा शब्दालंकार कहलाता है। परन्तु यदि शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार बना रहे तो वह शब्द पर आश्रित न होकर अर्थ पर आश्रित होता है तथा अर्थालंकार कहलाता है।[1]

मम्मटादि का उपर्युक्त मत उचित नहीं। उन्होंने अलंकार का आधार जानने के लिए एक तर्कप्रणाली को अपनाया है। परन्तु अलंकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नहीं होता और व्यक्ति अन्वय-व्यतिरेक के तर्क का आश्रय नहीं लेता। अमुक अलंकार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलंकार से उत्पन्न चमत्कार ज्ञान के साथ ही हो जाता है। उसके ज्ञान की कोई विभिन्न प्रक्रिया नहीं होती। उसके ज्ञान को हम उसी प्रक्रिया का अङ्ग मान सकते हैं। चमत्कारप्रतीति के साथ चमत्कार का आधार भी जुड़ा रहता है। अतः उस समय हमें यह ज्ञान भी हो जाता है कि अमुक अलङ्कार किस तत्त्व पर आश्रित है अथवा इसमें किस तत्त्व की प्रधानता है। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाने की आवश्यकता नहीं।

अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाने का प्रश्न तो तब उठता है जब हमें किसी वस्तु के आधार का निर्णय न करके हेतु का निर्णय करना हो। उदाहरणतः हम घट को लेते हैं। घट का आधार मृत्तिका है

१. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि। कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयो व्यर्थत्वादिप्रौढयाद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

—काव्य प्रकाश पृ० ५१८

तथा इसका हेतु दण्डचक्रादि है। मृत्तिका के ज्ञान के लिए अन्वयव्यतिरेकभाव अपनाने की आवश्यकता नहीं। मृत्तिका तो हमें घट में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। यदि हमें घट का ज्ञान है तो निश्चित रूप से यह भी ज्ञान है कि घट मृत्तिका का बना हुआ है अथवा इसका आधार मृत्तिका है। अतः इसके ज्ञान के लिए हम अन्वयव्यतिरेकभाव को नहीं अपनाते। अन्वयव्यतिरेकभाव को तो हम तभी अपनाते हैं जब हमें घट के हेतु दण्डचक्रादि का ज्ञान अपेक्षित हो जो हमें घट के साथ दृष्टिगोचर नहीं होते। अलङ्कारों के साथ भी यही बात है। अलङ्कारों के लिए हमें जिस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा है वह उनका आधार है हेतु नहीं। अतः इसे जानने के लिए अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अपेक्षित नहीं।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव आश्रयज्ञान के लिए अनावश्यक ही नहीं अपितु असमीचीन है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नहीं होता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है और इस हेतु का अपने कार्य से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का है। दण्डादि घट के आश्रय नहीं। आश्रय के लिए आवश्यक है कि आश्रित की उसमें सत्ता हो। दण्डादि में घट की सत्ता नहीं। शब्द तथा अर्थ में अलङ्कार की सत्ता रहती है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह पता नहीं लग सकता कि अलङ्कार का आधार शब्द है अथवा अर्थ।[1]

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करते हुए मम्मट तथा उनके अनुयायियों ने जिन तर्कों को उपस्थित किया है वे भी निर्मूल हैं। मम्मटादि कहते हैं कि आश्रयाश्रयिभाव एक अस्पष्ट सिद्धान्त है। जब तक अलङ्कार के आश्रय को जानने के साधन हमारे पास नहीं होंगे तब तक यह कहना कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा अलङ्कार का निर्णय हो जायगा उचित नहीं। आधार का निर्णय किए बिना केवलमात्र इतना कह देने से काम नहीं चल सकता कि जो अलङ्कार शब्द पर आश्रित होगा वह शब्दालङ्कार होगा तथा जो अर्थ पर आश्रित होगा वह अर्थालङ्कार होगा। ऐसे अलङ्कार जो सर्वथा शब्द पर आश्रित हों अथवा जो सर्वथा अर्थ पर आश्रित हों नहीं मिलेंगे। अलङ्कार

---

१. "अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु न तु आश्रयत्वावगमः। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वज्ञानाधीनः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३६।

का प्रयोजन काव्य में शोभा अथवा चारुता लाना होता है। काव्य अर्थ के रूप में होता है। इस प्रकार समस्त शब्दालंकारों का किसी न किसी प्रकार अर्थ से सम्बन्ध होगा ही अर्थालंकारों का तो शब्द से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति ही नहीं होगी। अतः आश्रयाश्रयिभाव के कारण शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार बन सकते हैं तथा अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार बन सकते हैं। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव को ही अलङ्कार का आधार मानना उचित होगा। इससे अलङ्कारों के निर्णय में सहायता मिलेगी तथा विरोधी को उत्तर दिया जा सकेगा।[1]

हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा अलङ्कारों के निर्णय में कोई कठिनता नहीं आती। जैसे ही कोई अलङ्कार अपने चमत्कार-रूप में हमारे सम्मुख आता है हमें इस चमत्कार के आधार का ज्ञान हो जाता है और हम उस अलङ्कार को उस आधार से सम्बन्धित अलङ्कार कह देते हैं। उदाहरणतः यदि हमें अलङ्कारविशेष के स्वरूप उच्चारणचमत्कार की प्रतीति होती है तो यह स्पष्ट है कि इस प्रतीति का आधार उच्चारण है तथा यह अलङ्कार उच्चारण अथवा शब्द से सम्बन्धित है। इसे ही हम शब्दालङ्कार कहते हैं। इसी प्रकार अर्थालङ्कार का भी निर्णय हो सकता है। यह ठीक है कि शब्दालङ्कार के आधार शब्द का अर्थ से सम्बन्ध होता है तथा अर्थालङ्कार का आधार अर्थ तो बिना शब्द के सम्भव न होने के कारण शब्द से अनिवार्यतः सम्बन्धित होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अर्थ तथा शब्द को भी क्रमशः शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का आधार मान लें। आधार के लिए आवश्यक है कि वह चमत्कार-प्रतीति का अङ्ग होना चाहिए। उपर्युक्त अलङ्कारों की चमत्कार-प्रतीति में अर्थ तथा शब्द के साथ यह बात नहीं। अतः ये इन अलङ्कारों के आधार नहीं कहे जा सकते।

---

१. चक्रवर्त्यादयस्तु "·········सर्वेषामलङ्काराणां सर्वालङ्कारत्वं शब्दार्थीयानामर्थशब्दीयत्वं नेति वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणेऽन्वयव्यतिरेकौ विनानुभवोऽपि प्रमाणयितुं न शक्यते इति तावेवोपन्यासार्हावित्यत्र तात्पर्यम्···।" इति व्याचख्युः।

काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ७६६।

शब्दालंकारकोटि में आने वाले अलंकार

अलङ्कारों के आधारभूत शब्द तथा अर्थ का पूर्व-निर्दिष्ट स्वरूप निश्चित हो जाने पर तथा इस आधार को जानने की प्रक्रिया ज्ञात हो जाने पर अब हमें यह देखना है कि शब्द पर आधारित शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत कौन कौन से अलंकार आते हैं जिससे उन अलंकारों के मूल में साम्य का विवेचन हो सके। आलङ्कारिकों ने शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत प्रायः अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति आदि की गणना की है। परन्तु पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार प्रतीत होगा कि श्लेष, वक्रोक्ति आदि को शब्दालङ्कारकोटि में रखना उचित नहीं।

श्लेष अलङ्कार के दो भेद माने गए हैं—सभङ्गश्लेष तथा अभङ्गश्लेष। पहले में पदभङ्ग होता है तथा उच्चारण के प्रयत्न में भेद होता है। दूसरे में पदभङ्ग नहीं होता तथा उच्चारण के प्रयत्न में भेद नहीं होता। ये दोनों श्लेष पूर्वनिर्दिष्ट आधार के अनुसार अर्थालङ्कारकोटि में चले जाते हैं। अभङ्गश्लेष को तो शब्दालङ्कार के अन्तर्गत मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें पदभङ्ग न होने के कारण शब्द एक रहता है और उच्चारण में प्रयत्नभेद नहीं होता। इसे रुय्यक ने एक वृन्त के समान कहा है जिसमें दो फल लगे हों।[1] ये फल अर्थ के रूप में होते हैं। इन दोनों अर्थों की प्रतीति इसी एक शब्द से होती है।[2] अतः यह अर्थप्रतीति ही चमत्कार का आधार

---

१. "अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दे श्लिष्टत्वम्"।

—सर्वस्व पृष्ठ ११।

२. कुछ विद्वान् कह सकते हैं कि 'अर्थभेदे शब्दभेदः' नामक सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त दशा में भी दो शब्द हैं। परन्तु यह कथन उचित नहीं, क्योंकि जहां तक उच्चारण का प्रश्न है दोनों दशाओं में शब्द एक ही रहता है। यदि 'अर्थभेदे शब्दभेदः' के सिद्धान्त को मानें तब तो विरोधी के अर्थालङ्कार रूप में भी दो शब्द होंगे और वह शब्दालङ्कार बन जाएगा। रुय्यक तथा जगन्नाथ का यही मत है:—

'अर्थभेदे शब्दभेदः' इति दर्शने रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दद्वयाश्रितोऽयं तथाप्यौत्पत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतावेकतयाध्यवसानान्नास्ति शब्दभेदः।

—सर्वस्व पृष्ठ ११४।

है। इसका कारण यह है कि एक शब्द से प्रायः एक अर्थ निकला करता है। परन्तु उपर्युक्त दशा में उससे दो या अधिक अर्थ निकलते हैं। अतः इस दशा में अर्थ का चमत्कारोत्पादक होना स्वाभाविक है। अर्थ के चमत्कारोत्पादक होने के कारण यह अर्थालंकार है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि उपर्युक्त दशा में अर्थों की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है। अतः इसे शब्दालंकार क्यों न मान लिया जाए। इसका उत्तर यह है कि शब्दों के द्वारा अर्थ-प्रतीति अलंकार को शब्दालंकार नहीं बनाती। शब्दालंकार तो वहीं माना जा सकता है जहां उच्चारणरूप शब्द अलंकार-जन्य चमत्कार का आवश्यक अंग हो। उपर्युक्त दशा में ऐसी बात नहीं। अतः यह शब्दालंकार नहीं माना जा सकता। दूसरे यदि शब्द के अर्थप्रत्यायकत्व को ही शब्दालंकार का आधार माना जाता है तब तो समस्त अर्थालंकार शब्दालंकार में परिवर्तित हो जाएंगे क्योंकि उनमें अर्थ का ज्ञान शब्दों के द्वारा ही होता है और इस प्रकार अर्थालंकारों का सर्वथा लोप हो जाएगा।

श्लेष की दशा में व्यवहार में प्रायः हम यह कह देते हैं कि यहां शब्द-चमत्कार है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि इस शब्द-चमत्कार से हमारा तात्पर्य वस्तुतः अर्थ चमत्कार से ही होता है। जब हम 'शब्द-चमत्कार' इस शब्द का प्रयोग करते हैं तब प्रश्न उठता है कि यह चमत्कार किस रूप में होता है। इसका उत्तर यही है कि यह अर्थरूप में होता है। शब्द से जो दो या अधिक अर्थ निकलते हैं वे ही चमत्कार का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शब्द-चमत्कार का पर्यवसान अर्थ-चमत्कार में ही होता है।

सभंगश्लेप में शब्द-चमत्कार होता अवश्य है परन्तु प्रधानता अर्थ-चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालंकार माना है। मम्मट ने इस पर उद्भट आदि की आलोचना की है। यह इस प्रकार है:—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभङ्गस्य) अपि 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेदः' इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वात्.........परम् उभयत्र 'हरिः' इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अत एव अभङ्गस्य शब्दद्वयवृत्तितासाधनं न सुशकम्। अन्यथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' इति नये पराभिमतोऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालङ्कार एव स्यात्। —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३६, ५२७।

'शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः।'
—काव्य प्रकाश पृ० ५२७

मम्मटकृत यह आलोचना उचित नहीं। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमें आंशिक भेद है, इससे यह तात्पर्य नहीं कि ये शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की विभिन्न कोटियों में आते हैं। दोनों का यह आंशिक भेद स्पष्ट है। अभंगश्लेष में तो केवल एक ही शब्द होता है, परन्तु सभंगश्लेष में पदभंग के कारण दो शब्द बनते हैं। इनके उच्चारण में भी प्रयत्नभेद होता है। ये दोनों एक शब्द में श्लिष्ट हो जाते हैं। इनके इस श्लिष्टत्व को रुय्यक ने जतुकाष्ठन्याय की संज्ञा दी है।[1] इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार अर्थ के कारण ही होता है। अतः इसे अर्थालंकार के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

अब तक हमने श्लेष अलंकार के आधार का निरूपण आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार किया है तथा इसका आधार अर्थ निश्चित करके इस अलंकार को अर्थालंकारकोटि में रखा है। अब हम इसके आधार का निरूपण अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा करते हैं तथा यह देखते हैं कि इस दृष्टि से यह अलंकार किस कोटि में आता है। यद्यपि अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अलंकार के आधारज्ञान के लिए आवश्यक नहीं, परन्तु मम्मटादि ने अलंकारों के निर्धारण के लिए यही सिद्धान्त अपनाया है तथा इसके अनुसार श्लेष को शब्दालंकार कोटि में रखा है। अतः हमें यह देखना है कि इस सिद्धान्त को अपना कर किया हुआ मम्मटादि का निर्णय ठीक है या नहीं।

अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्त को अपना कर मम्मट ने शब्द श्लेष के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमें से एक निम्नलिखित है:—

"अलंकारः शंकाकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णांगो भृंगी वसु च वृष एको बहुवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो—
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी॥"

---

१. 'अपरत्र तु जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव शब्दयोः श्लिष्टत्वम्'
—सर्वस्व पृ० ११४

मम्मट के अनुसार यहां 'विधौ' में शब्दश्लेष है। विधौ के दो अर्थ हैं—'चन्द्रे' तथा 'भाग्ये'। ये दो अर्थ तभी तक हैं जब तक यहां 'विधौ' शब्द है। जैसे ही इस शब्द के स्थान पर हम इसके पर्यायवाची 'चन्द्रे अथवा 'भाग्ये' में से किसी एक शब्द को रखते हैं उपर्युक्त दो अर्थों में से एक अर्थ का लोप हो जाता है और फलतः श्लेषालंकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'विधौ' शब्द के सद्भाव की दशा में श्लेष का सद्भाव होने से तथा इस शब्द के अभाव में श्लेष का अभाव होने से मम्मट कहते हैं कि यह अलंकार शब्द पर आश्रित है। अतः शब्दालंकार है। मम्मट का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं क्योंकि इस तर्क को अपनाकर तो इतने ही औचित्य के साथ इसे निम्नरीति से अर्थालंकार भी सिद्ध किया जा सकता है:—उपर्युक्त श्लोक में अर्थद्वय के सद्भाव की दशा में श्लेष का सद्भाव रहता है तथा इस अर्थद्वय के अभाव में श्लेष का अभाव हो जाता है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि अर्थद्वय अथवा एक प्रकार से अर्थ ही श्लेष का आधार है। अतः यह अर्थालंकार है। विरोधी यहां यह कह सकते हैं कि यह वस्तुतः 'विधौ' शब्द का सद्भाव तथा असद्भाव ही है जो अर्थद्वय के क्रमशः सद्भाव तथा असद्भाव का कारण बनता है। परन्तु अन्ततोगत्वा है तो यह अर्थद्वय का सद्भाव तथा असद्भाव ही जो श्लेषालंकार का सीधा निर्णायक बनता है।

दूसरे उपर्युक्त उदाहरण में तो 'विधौ' शब्द के परिवर्तन से अर्थद्वय का अभाव हो जाता है, परन्तु प्रत्येक दशा में ऐसा होना आवश्यक नहीं। हमें कभी कभी किसी शब्द के स्थान पर ऐसा पर्यायवाची शब्द भी मिल सकता है जिसके वे ही दो अर्थ निकलें। अतः शब्द के परिवर्तन पर अर्थद्वय के अभाव को हम सामान्य सिद्धान्त नहीं बना सकते।

वस्तुतः श्लेष को निर्णायक रूप से शब्दालंकार तभी माना जा सकता है जब अर्थद्वय के रहते हुए भी केवलमात्र शब्द के परिवर्तन से श्लेष का लोप हो जाए। हमारी इस मान्यता का आधार यह है कि हमारे सम्मुख श्लेष के दो सम्भावित कारण हैं—शब्द तथा अर्थ और इनमें से किसी एक का हमें निर्णय करना है। जहां किसी वस्तु के दो सम्भावित कारणों में से हमें किसी एक का निर्णय करना हो और हम अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाएं तो इसकी उचित प्रक्रिया यही है कि हम इन दो कारणों में से एक को तो रहने दें तथा केवल एक को हटाएं और तब देखें कि उस

वस्तु का लोप होता है या नहीं। यदि इस प्रकार उस वस्तु का लोप हो जाए तभी हम कह सकते हैं कि हटा हुआ कारण उस वस्तु का यथार्थ कारण है। उदाहरणतः सुगन्ध के लिए हम पुष्प तथा पत्र इन दो सम्भावित कारणों को लेते हैं और इसके लिए अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाते हैं। इसको अपनाने की उचित प्रणाली यही है कि हम पुष्प तथा पत्र में से एक को रहने दें तथा अन्य को हटा लें और तब देखें कि सुगन्ध बनी रहती है या नहीं। हमें ज्ञात होगा कि पुष्प के हटाने पर पत्र के रहते हुए भी सुगन्ध का लोप हो जाता है। तभी हम कहते हैं कि सुगन्ध का कारण पुष्प है। श्लेषालंकार के निर्णय के लिए भी मम्मट को अन्वय-व्यतिरेकभाव का प्रयोग इसी रूप में करना चाहिए और उसे शब्दालंकार तभी कहना चाहिए जब अर्थद्वय के रहते हुए भी शब्द के परिवर्तनमात्र से श्लेष का खण्डन हो जाए। परन्तु श्लेष में ऐसा नहीं होता। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा भी कम से कम यह तो सिद्ध नहीं होता कि श्लेष शब्दालंकार है।

वक्रोक्ति भी इस आधार के अनुसार अर्थालंकार के अन्तर्गत आती है। वक्रोक्ति से यहां हमारा अभिप्राय संकुचित वक्रोक्ति अलंकार से है, भामह तथा कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति से नहीं। यह तो सब अलंकारों की तथा काव्य की मूल है। इस वक्रोक्ति अलंकार के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति।[1] मम्मटादि ने इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है, परन्तु यह उचित नहीं। श्लेष अर्थालंकार है। अतः उस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालंकार ही होगी। काकु-वक्रोक्ति में भी अर्थतत्त्व का चमत्कार होता है। अतः यह भी अर्थालंकार के अन्तर्गत आएगी।

अनेक आलंकारिकों ने चित्र को भी शब्दालंकार माना है। परन्तु इसे अलंकारकोटि के अन्तर्गत रखना ही उचित नहीं। चित्र काव्य का अंग ही नहीं बन सकता। काव्य में शब्द तथा अर्थ दो तत्त्व होते हैं। इनमें शब्द स्वतः साध्य न होकर साधनमात्र होता है और उसका साध्य अर्थ की सम्यक् प्रतीति कराना होता है। परन्तु जब शब्द स्वतः साध्य बन जाता है तो

---

१. 'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥'

—काव्यप्रकाश सू० १०३

वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और काव्य का अंग नहीं रहता। चित्र में भी यही बात है। इसमें शब्दों का केवल खिलवाड़ होता है। उससे अर्थ का कोई उपकार नहीं होता।

पुनरुक्तवदाभास को अनेक आलंकारिकों ने शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है। परन्तु यह उचित नहीं। इस अलंकार में चमत्कार समान अर्थ के आभास पर आश्रित होता है।[1] इसमें न तो शब्दों की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की पुनरुक्ति केवल अर्थपुनरुक्ति का आभास होता है। अतः यह अलंकार शब्द पर आश्रित नहीं कहा जा सकता। अन्वयव्यतिरेकभाव को अलंकार का आधार मानने वाले आलंकारिकों ने इसे उभयालंकार कहना उचित समझा है, परन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता के कारण अथवा प्राचीन मतों के अनुरोध से इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ का यही मत है।[2]

इससे स्पष्ट है कि अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है। परन्तु वे इसमें शब्द का भी चमत्कार मानते हैं। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उनका यह विचार सदोष है। जहां तक शब्दों के उच्चारण का प्रश्न है उनमें न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न किसी प्रकार का चमत्कार है। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमें तभी होती है जब हम अर्थ पर विचार करते हैं। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दों के कारण होती है कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दों के कारण होने से समस्त अर्थालंकार शब्दालंकार बन जाएंगे।

---

१. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव'।

—काव्यप्रकाश सू० १२२

२. 'एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ'—काव्यप्रकाश पृ० ७६८

इस पर उद्योतकार का कहना है:—"अत एव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः" काव्य प्रकाश टीका पृ० ७६८

"शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरंतनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह"—साहित्यदर्पण पृ० ४७२।

रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास का कारण अर्थपौनरुक्त्य माना है।[1] इस प्रकार यह अर्थालंकार के अन्तर्गत आना चाहिए।

भोज ने शब्दालंकारों की संख्या २४ तक पहुँचा दी है। इन्होंने जाति, गति, छाया, मुद्रा आदि अनेक शब्दालंकार माने हैं।[2] इस विषय में वे एक भिन्न परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें संस्कृत के मान्य आलंकारिकों का समर्थन प्राप्त नहीं और न उपर्युक्त अलंकारों के शब्दालंकार मानने का कोई उचित आधार ही दिखाई देता है।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा यमक शब्दालंकार के अन्तर्गत रह जाते हैं। कुछ आलंकारिकों ने छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को दो भेद माना है। कतिपय आलंकारिक लाटानुप्रास को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं। भामह ने लाटानुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[3] उद्भट ने तीनों को भिन्न भिन्न माना है।[4] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है परन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[5] रुय्यक तीनों को भिन्न भिन्न मानते हैं।[6] विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है, परन्तु उन्होंने अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास नामक दो भेद और किए हैं।[7] इनमें मम्मट तथा विश्वनाथ का मत समीचीन है। छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनों में केवल शब्द (वर्णादि) सादृश्य होता है। अतः उन्हें एक अलंकार के दो भेद मानना उचित होगा। लाटानुप्रास में शब्दसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है। अतः इसे भिन्न अलंकार मानना उचित होगा।

१. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारोऽयम्' सर्वस्व पृ० १५

२. चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालंकारजातयः।
अथासां लक्षणं सोदाहरणमुच्यते ॥" सरस्वती कण्ठाभरण २ । ५

३. "लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।" काव्यालंकार २ । ८

४. देखिए काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ३ से १०

५. देखिए काव्य प्रकाश पृ० ४६४—४६८

६. देखिए सर्वस्व सू० ४, ५, ८

७. देखिए साहित्यदर्पण पृ० ४७६, ४७७

"शब्दालंकारों के मूल में सादृश्य"

इन समस्त शब्दालंकारों के मूल में सादृश्य है। अनुप्रास के मूल में वर्णादि का सादृश्य है। लाटानुप्रास के मूल में शब्दसादृश्य तथ अर्थसादृश्य दोनों विद्यमान हैं। यमक में स्वरव्यञ्जनसमुदाय का तो सादृश्य होता है परन्तु अर्थ में भेद होता है। आलंकारिकों ने प्रायः आवृत्ति को शब्दालंकार का मूल माना है। रुय्यक ने इसी आवृत्ति के आधार पर शब्दालंकारों के तीन आधार बताए हैं-शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य।[1] यह आवृत्ति तथा सादृश्य भिन्न तत्त्व नहीं। हम आवृत्ति को सादृश्य में अन्तर्भूत कर सकते हैं।

अनुप्रास में व्यञ्जनों की अथवा व्यञ्जनों एवं स्वरों की आवृत्ति होती है। यदि केवल व्यञ्जनों की आवृत्ति होती है तो स्वरों में भेद होगा। इस प्रकार व्यञ्जनों की दृष्टि से अभेद तथा स्वरों की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनों भेद एवं अभेद मिलकर सादृश्य की प्रतीति कराएंगे। यदि व्यञ्जन तथा स्वर दोनों की आवृत्ति होती है तो शब्द के अन्य वर्णों की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनों अभेद तथा भेद मिलकर पूर्ववत् सादृश्यप्रतीति कराएंगे। इस प्रकार व्यञ्जनों तथा स्वरों की आवृत्ति भले ही हो यह उच्चारण में सादृश्य की प्रतीति ही है जो चमत्कार का कारण है।

लाटानुप्रास में अभेद के दो तत्त्व होते हैं। ये शब्दपौनरुक्त्य तथा अर्थपौनरुक्त्य हैं। इसमें भेद का एक तत्त्व होता है। यह तात्पर्यभेद है। शब्दपौनरुक्त्य के कारण उच्चारण में सादृश्य की प्रतीति होती है। अर्थपौनरुक्त्य तथा तात्पर्यभेद के कारण अर्थ में सादृश्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार लाटानुप्रास में शब्दसादृश्य तथा अर्थसादृश्य दोनों विद्यमान हैं।

यमक में स्वर तथा व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है। यह आवृत्ति उच्चारण में सादृश्यप्रतीति का कारण है। इस अलंकार

---

१. "इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः"—सर्वस्व सू० १

में उच्चारण की सादृश्यप्रतीति के अतिरिक्त एक और तत्त्व की आवश्यकता है और वह है आवृत्त स्वरव्यञ्जनसमुदाय में अर्थभेद।

इस प्रकार उच्चारण-साम्य सब शब्दालंकारों का सामान्य तत्त्व है। लाटानुप्रास तथा यमक में एक एक और अन्य तत्त्व होता है। लाटानुप्रास में अर्थसाम्य होता है तथा यमक में अर्थवैषम्य होता है।

अनुप्रास में उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य आवश्यक:—

अनुप्रास में उच्चारण-साम्य तो होता ही है, अलंकार होने के नाते इसमें एक और तत्त्व की आवश्यकता है। यह है इस उच्चारण का अर्थानुकूल होना। इसे हम उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य कह सकते हैं। उच्चारण तथा अर्थ में घनिष्ट सादृश्य होता है। यदि अर्थ माधुर्यपूर्ण है तो आवश्यक है कि वर्णों का उच्चारण भी कोमलतापूर्ण हो। यदि अर्थ ओज:पूर्ण है तो वर्णों का भी कठोर होना आवश्यक है। संगीत के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। संगीत में भावों की प्रधानता होती है। इस भाव का ज्ञान अर्थज्ञान से उतना नहीं होता जितना वर्णों के स्वभाव तथा लय से होता है। हम अपरिचित भाषा के भी संगीत को सुनकर उसके भाव को जो समझ लेते हैं उसका कारण वर्णों का स्वभाव तथा लय ही है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य भवभूति की निम्न पंक्ति से स्पष्ट हो जाएगा:—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

यहां कठोरता तथा कोमलता के दो भाव हैं और उन्हीं के अनुसार कठोर तथा कोमल वर्णों का विधान किया गया है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य निर्विवाद है। कतिपय वर्ण स्वभाव से कोमल होते हैं तथा कतिपय स्वभाव से कठोर होते हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है।[1] वर्णों तथा अर्थ के इस सादृश्य को अभिनव ने वर्णध्वनि कहा है। कुन्तक ने इसे वर्ण-वक्रता कहा है तथा क्षेमेन्द्र ने वर्णौचित्य कहा है।

---

१. आनन्द ने वर्णों के इसी स्वभाव के आधार पर इनके रसच्युतः तथा रसश्च्युतः नामक दो भेद किए हैं। रस-प्रकरण में इसका विवेचन हो चुका है।

अलंकारशास्त्र में अनुप्रासजातियों अथवा वृत्तियों का विधान इसी वर्णध्वनि पर आश्रित है।[1] मम्मट ने इस वर्णध्वनि को वृत्त्यनुप्रास का

अभिनव ने सन्तापक तथा निर्वापक नामक दो भागों में वर्णों का विभाजन किया है:—

अन्यैरपि उक्तं "तेन वर्णा रसच्युतः" इत्यादि। स्वभावतो हि केचन वर्णाः

सन्तापयन्तीव। अन्ये तु निर्वापयन्तीव उपनागरिकोचिताः। लोकगोचर एवायमर्थः। साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ८८

पाश्चात्य विद्वानों ने भी वर्णों तथा अर्थ के इस सादृश्य को स्वीकार किया है। अरस्तू, पोप आदि इनमें प्रमुख हैं:—

"It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language there is a certain loss of persuasiveness." Rhetoric

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ११७

"It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense."

Essay on criticism.

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० १२८

१. मम्मट के अनुसार वृत्ति नियतवर्णगत रसविषय व्यापार है:—

"नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारो वृत्तिः"-काव्यप्रकाश पृ० ४५६। वृत्ति की यह परिभाषा वर्णों एवं रस के सादृश्य की स्पष्ट द्योतक है। मम्मट ने वृत्ति के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक तीन भेद करके उनका क्रमशः माधुर्यव्यञ्जक, ओजोव्यञ्जक तथा इनके अतिरिक्त अन्य वर्णों से सम्बन्ध दिखाया है।

—काव्यप्रकाश पृ० ४६७

आनन्द ने भी वृत्ति को रसोचित शब्दव्यवहार कहा है। उनका कथन इस प्रकार है:—

"रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।

औचित्यवान यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा मताः॥" ध्वन्यालोक ३। ३३

मूल माना है ।[1] परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि छेकानुप्रास में भी यह अपेक्षित है । अनुप्रास का अर्थ मम्मट ने 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासः' किया है ।[2] अतः इसमें वर्णविधान प्रकृत रस के अनुकूल होना चाहिए । इसी की व्याख्या करते हुए वामनाचार्य कहते हैं:—

'तथा च अनतिव्यवहितत्वेन चमत्कृत्याधायिका प्रकृतरसव्यञ्जकसदृश-वर्णावृत्तिरनुप्रास इति फलितम् ।.........प्रकृतरसप्रतिकूलेऽपि अनुप्रास-व्यवहारो भाक्त एव ।' काव्य प्रकाश टीका पृ० ४९५

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतरस से प्रतिकूल वर्णसाम्य में अनुप्रास शब्द का व्यवहार केवल गौण रूप से होता है । छेकानुप्रास अनुप्रास का एक भेद है । अतः अनुप्रास की सामान्य परिभाषा उस पर भी लागू होनी है ।

छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास में कोई विशेष भेद भी नहीं । अनुप्रास को वर्णसाम्य माना गया है । उसका भेद छेकानुप्रास अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति कहा गया है तथा वृत्त्यनुप्रास एक अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति कहा गया है ।[3] अतः एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति के मूल में यदि रसोचितवर्णव्यवहार अथवा वर्णध्वनि है तो यह कैसे हो सकता है कि अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में उसकी कोई अपेक्षा न हो ।

'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः' ।

ध्वन्यालोक पृ० ४०१

अभिनव ने भी वृत्ति के परुषा, उपनागरिका एवं कोमला नामक भेद करके उनका रस से सम्बन्ध दिखाया है:—

'नागरिकया उपमिता अनुप्रासवृत्तिः शृंगारादौ विश्राम्यति । परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु । कोमला हास्यादौ । तथा 'वृत्तयः काव्यमातरः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः' ।

साहित्यशास्त्र द्वि० ल० पृ० २६३

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४६७

२. काव्यप्रकाश पृ० ४६५

३. "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः" काव्य प्रकाश पृ० ४६६

जहां तक इन दोनों भेदों के मूल का प्रश्न है, उच्चारण-सादृश्य इनके मूल में विद्यमान है। परन्तु केवल उच्चारण-सादृश्य काव्य का अंग नहीं बन सकता। उच्चारण-सादृश्य का केवल शब्दों से सम्बन्ध होता है। परन्तु काव्य के लिए शब्दतत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों की आवश्यकता है। अर्थ से असम्बद्ध शब्द कोई अर्थ नहीं रखता। अतः अर्थ से असम्बद्ध उच्चारण-सादृश्य का भी काव्य में कोई मूल्य नहीं। शब्द की इसी अर्थानुकूलता का ध्यान रखकर भामह ने काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[२] की है। पण्डितराज जगन्नाथ को भी जिन्होंने काव्य की परिभाषा में शब्द पर बल दिया है 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[१] कहकर शब्द का अर्थ से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। अतः केवल शब्दचमत्कार काव्य का अंग नहीं बन सकता।

लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक में तो कुछ अंशों में उच्चारण-सादृश्य की इस रसानुकूलता की उपेक्षा की जा सकती है, परन्तु अर्थहीन उच्चारण-सादृश्य वाले छेकानुप्रासादि में ऐसा सम्भव नहीं। लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक में अर्थतत्त्व भी होता है। पहले में तात्पर्यभेद के साथ अर्थसादृश्य होता है तथा दूसरे मे अर्थवैषम्य होता है। अतः यह उच्चारण-सादृश्य अर्थ का उपकारक बन जाता है और ये दोनों अलङ्कार वर्णध्वनि के अभाव में भी अलङ्कार बने रहते हैं परन्तु छेकानुप्रासादि में ऐसी बात नहीं।

ध्वनिवादियों का कथन है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार की परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नहीं। उनके अनुसार अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार नहीं करते। कभी कभी ये काव्य का उपकार करते हैं तथा कभी कभी नहीं भी करते। ये अलङ्कार को काव्य का एक बाहिरी उपकरण मानते हैं जो काव्य का उपकार कर भी सकता है और कभी कभी नहीं भी करता। काव्य का यह उपकार अलङ्कार की अनुकूलता पर निर्भर करता है। अनुकूलता को ये एक भिन्न तत्त्व मानते हैं। यह अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं आता। इसीलिए इन लोगों ने अलङ्कारों की तुलना लौकिक आभूषणों से

---

१. भामहालंकार १। १६

२. रसगंगाधर पृ० ४

की है जो औचित्य का ध्यान रखकर ऊपर से जोड़े जाते हैं। मम्मट आदि का यही मत है।[1]

ध्वनिवादियों का यह कथन उचित नहीं। काव्य के अलङ्कारों की हार आदि से तुलना ठीक नहीं। हार एक बाह्य आभूषण है। इसकी सत्ता कण्ठ से पृथक् है। यह कण्ठ के सम्पर्क में आकर कण्ठ की शोभा बढ़ाता है और उसके द्वारा शरीरी की शोभा बढ़ाता है। काव्य के अलङ्कारों के साथ यह बात लागू नहीं होती। अलङ्कारों की सत्ता शब्द तथा अर्थ से भिन्न नहीं। शब्द तथा अर्थ ही अलङ्कारों के स्वरूप हैं और इसी रूप में वे प्रकट होते हैं। यदि अलङ्कारों की सत्ता शब्द तथा अर्थ से पृथक् हो तभी हम हारादि बाह्य आभूषणों से उनकी तुलना कर सकते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं। अलङ्कार काव्य में आकर जुड़ते नहीं हैं अपितु अलङ्कार के रूप में ही काव्य की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए कुन्तक का कथन है:—

'तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग.''।

यदि ऐसी बात है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार करते हैं अथवा नहीं। यह प्रश्न तो तभी उठता है जब अलङ्कार काव्य से भिन्न कोई वस्तु हो। काव्य का स्वरूप शब्द तथा अर्थ है ओर इसी रूप में अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है। यह एक विचित्र बात है कि अलङ्कार अलङ्कार होते हुए काव्य को अलंकृत नहीं करता। इससे तो अच्छा होगा कि हम उसे अलङ्कार की श्रेणी में ही न रखें। केवल स्थूल परिभाषा ही तो अलङ्कार नहीं है। उसके लिए सामान्य तत्त्व चारुता तथा विच्छित्ति की आवश्यकता है। प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने अलङ्कार के अलङ्कारत्व के लिए इस चारुता को स्वीकार किया है। भामह ने इसे वक्रता कहा है। इनके अनुसार यह वक्रता सब अलङ्कारों के मूल में है।[2] इसी वक्रोक्ति को कुन्तक ने एक व्यवस्थित रूप दिया तथा इसकी महत्ता बताई। अतः अलङ्कार वही होगा जो अर्थ में चारुता लाए। यदि

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश सू० ८८।

२. "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनया अर्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥" भामहालङ्कार २।८५।

अलङ्कार अर्थानुकूल नहीं है तो वह अलङ्कार ही नहीं रहेगा और अलङ्कार के लिए ही ऐसा क्यों कहें। ध्वनि आदि पर भी यह बात लागू होती है। ध्वनि के अनेकों भेदोपभेद किए गए हैं, यहां तक कि उनकी संख्या सहस्रों तक पहुँच गई है। प्रश्न उठता है कि क्या काव्य में इन भेदोपभेदों के सन्निवेशमात्र से काव्यत्व आ जाएगा। इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। इन भेदोपभेदों के सन्निवेश के लिए आवश्यक है कि प्रधान अर्थ से इनकी अनुकूलता हो। यदि ध्वनि के लिए यह अनुकूलता आवश्यक है तो अलङ्कार के लिए क्यों नहीं? यदि इस अनुकूलता को ध्वनि का एक अङ्ग माना जाता है तो इसे अलङ्कार का भी एक अङ्ग मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अतः यह निश्चित है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार का आवश्यक अङ्ग है और ऐसा होने के कारण छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनों में वर्णध्वनि अपेक्षित है।

अनुप्रास

वर्णध्वनि का ध्यान रखते हुए सदृश उच्चारण-विधान अनुप्रास है। यह बात अनुप्रास के सभी भेदों पर समान रूप से लागू होती है। यह उच्चारण-सादृश्य व्यञ्जनसाम्य पर निर्भर है अथवा व्यञ्जन तथा स्वर दोनों के साम्य पर प्रायः इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों ने अपनी परिभाषाओं की रचना की है। प्रायः सभी आलङ्कारिक इस बात पर सहमत हैं कि केवल स्वर-सादृश्य चमत्कार का कारण नहीं हो सकता। प्रदीपकार ने इस विषय में स्पष्ट निर्देश किया है:—

"..........न च स्वरमात्रसादृश्ये रसानुगमः न वा सहृदयहृदयावर्जकत्वलक्षणः प्रकर्षः।" काव्यप्रकाशटीका पृ० [illegible]।

रुय्यक का यही मत है।[1] इस बात पर भी सभी आलङ्कारिक सहमत हैं कि सादृश्य के लिए आवृत्ति अव्यवधान से होनी चाहिए।[2] अधिक व्यवधान वाली आवृत्ति सादृश्य तथा चमत्कार की जनक नहीं होती।

मम्मट ने वर्णसाम्य को लेकर 'वर्णसाम्यमनुप्रासः'[3] परिभाषा की है। विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है:—

"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्"

—साहित्यदर्पण पृ० ४३८।

जयदेव ने स्वर तथा व्यञ्जन दोनों के समुदाय को आवश्यक मानते हुए छेकानुप्रास की परिभाषा की है:—

"स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा।"

मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषा समान प्रतीत होती है। विश्वनाथ ने शब्द का अर्थ वर्णादि लिया है। मम्मट ने भी "स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जन-सदृशत्वं वर्णसाम्यम्"[4] ऐसा अपनी वृत्ति में कहा है। अतः व्यञ्जनमात्र

---

१. 'अलङ्कारप्रस्तावे केवलस्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते' —सर्वस्व पृ० १६

२. 'प्रकृष्टः—संनिहितः, तेनातिव्यवधानेन न्यासस्य चमत्काराप्रयोजकस्य व्युदासः' उद्योत —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

३. काव्य प्रकाश सू० १०४। ४. काव्यप्रकाश पृ० ४६५।

का साम्य पर्याप्त है। स्वरसाम्य उसमें चारुता अवश्य ला देता है। अतः स्वर तथा व्यञ्जन दोनों का सादृश्य अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। उद्योतकार का यही मत है।[1]

व्यञ्जन-साम्य निम्न प्रकार से सम्भव है:—एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति, एक व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति, अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति तथा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति। इसमें एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति चमत्कारजनक नहीं होती। अतः वह अनुप्रास का उदाहरण नहीं हो सकती। एक व्यञ्जन अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास कहलाती है तथा अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास कहलाती है।[2]

वर्णसाम्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसी वर्ण की आवृत्ति हो। तत्सदृश वर्ण आने पर भी यह साम्य सम्भव है। वर्णादि कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। अतः उनके साम्य का ज्ञान भी कर्णेन्द्रिय से होता है। कर्णेन्द्रिय का सम्बन्ध शब्द के उच्चारण से होता है। और वस्तुतः शब्द उच्चारण-स्वरूप ही है। पुस्तक में लिखित शब्द तो उसी का एक लिपिबद्ध प्रतीक है। उच्चारण कण्ठादि स्थानों से होता है। अतः वर्णादि के उच्चारण-स्थानों में यदि एकता है तो उसमें साम्य की प्रतीति होगी। अतः वर्णसाम्य के लिए जातिसाम्य आवश्यक न होकर श्रुतिसाम्य आवश्यक है। एक ह वर्ण के आने पर उससे सादृश्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे वर्ण में भी हत्व हो परन्तु इतना पर्याप्त है कि दूसरा वर्ण इसी स्थान से उच्चरित हो तथा समान प्रयत्नवाला हो। यही कारण है कि 'रंहः संघः' आदि में

१. "......उभयसाम्ये चारुत्वातिशय इति ध्वन्यते। यथा 'अग्रेसरा वासराः' इत्यादौ" उद्योत। —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

२. "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, एकस्याप्यसकृत्परः"।

—काव्यप्रकाश सू० १०६, १०७।

अनुप्रास माना गया है।[1]

कतिपय आलङ्कारिकों ने इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है तथा इसका नाम श्रुत्यनुप्रास रखा है। भोज ने इसे स्वीकार किया है। वे तो अनुप्रास के भेदों में इसे सर्वोत्तम समझते हैं।[2] विश्वनाथ ने भी इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है। उनकी श्रुत्यनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार है:—

"उच्चार्यत्वाद्यदैकत्र स्थाने तालुरदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास इष्यते॥" —साहित्य दर्पण १०।५

सहृदयों के कानों को अतीव सुखकर होने के कारण इसका नाम उन्होंने श्रुत्यनुप्रास रखा है।[3]

कतिपय आलङ्कारिकों ने अनुप्रास का अन्त्यानुप्रास नामक एक और भेद माना है। यह पद के अन्त में आता है। विश्वनाथ ने इसे स्वीकार किया है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है:—

"व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यते अन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।"—साहित्यदर्पण १०।६

इसके दो भेद किए हैं:—पादान्तगः तथा पदान्तगः। इनके उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं:—

"केशः काशस्तवकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः।"

"मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः।" —साहित्यदर्पण पृ० ४७७।

भोज ने नामद्विरुक्ति के आधार पर अनुप्रास के कुछ और भेद किए हैं। वे लिखते हैं:—

१. "साम्यं च श्रुतिकृतमपि गृह्यते। यथा 'याति राजा बलान्धः' इति 'रहः संघः' इति च श्रुतिसाम्यं स्थानैक्यात्।" उद्योत—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ४४६

२. 'प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः।

३. 'एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः' साहित्यदर्पण पृष्ठ० ४७६।

"स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा ।
नाम्ना द्विरुक्तिभिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते ॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।९९ ।

स्वभाव का उदाहरण 'कलकलम्' गौणी का उदाहरण 'रतिरपि रतिः' वीप्सा का उदाहरण 'शैले शैले' तथा आभीक्ष्ण्य का उदाहरण 'पायं पायम्' है ।[1] इन अलङ्कारों में केवल उच्चारणसादृश्य ही नहीं अपितु अर्थतत्त्व भी है ।

१. देखिए सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ २५४, २५५ ।

यमक

यमक का वर्णन प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने किया है। भरत ने इसे शब्दाभ्यास कहा है तथा इसके दस भेद किए हैं।[1] भट्टि का यमकवर्णन विस्तृत है। इन्होंने इस सम्बन्ध में बीस श्लोक लिखे हैं। दण्डी ने भी इसका वर्णन विस्तार से किया है। भामह ने यमक के पांच भेद किए हैं।[2] उद्भट ने यमक का वर्णन नहीं किया है। रुद्रट, वामन आदि ने इसका वर्णन किया है। भोज, मम्मट आदि ने इसका सविस्तार वर्णन किया है।

यमक की परिभाषा करने में आलङ्कारिक प्रायः सहमत हैं। हेमचन्द्र, मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषाएं समान हैं। मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है:—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"।

—काव्यप्रकाश सू० ११७।

भोज तथा केशवमिश्र की परिभाषाएं प्रायः समान हैं। भोज की परिभाषा इस प्रकार है:—

"विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः"।

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।५८।

रुय्यक, जयदेव तथा विद्यानाथ की परिभाषाएं प्रायः समान हैं। रुय्यक की परिभाषा इस प्रकार है:—

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सू० ६।

जहां तक वर्णसमुदाय की पुनरुक्ति का प्रश्न है ये परिभाषाएं समान हैं। इनमें अन्तर है केवल अर्थवैषम्य की ओर संकेत करने अथवा न करने का। रुय्यक की परिभाषा में इस ओर कोई संकेत नहीं। मम्मट में यह

---

१. "शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।
एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्॥" —नाट्यशास्त्र १६।६२-६५।

२. आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत् पञ्चधोच्यते॥" —भामहालङ्कार २.६।

संकेत है अवश्य परन्तु प्रत्येक दशा में अर्थ-वैषम्य हो ऐसी बात नहीं। अर्थ होने पर यह अर्थ-वैषम्य होगा। भोज में इस ओर स्पष्ट संकेत है।

यदि अर्थवैषम्य को परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नहीं माना जाता है तो निरर्थक वर्णों की अथवा सार्थक एवं निरर्थक वर्णों की आवृत्ति भी यमक के अन्तर्गत आएगी। अपनी वृत्ति में मम्मट ने यह बात स्पष्ट कर दी है:—

"समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वे अन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्" काव्यप्रकाश पृ० ५०२

यदि ऐसी बात है तो अनुप्रास से निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक का विभेदक क्या है? दोनों में वर्णसाम्य है। अर्थवैषम्य किसी में भी नहीं। यदि कहा जाता है कि अनुप्रास में स्वरसादृश्य केवल आनुषंगिक है, परन्तु यमक में वह अनिवार्य है तो भी यमक के इस भेद को अनुप्रास से पृथक् करने का यत्न सिद्ध नहीं होता। उच्चारण-साम्य दोनों में समान रूप से है। यह उच्चारण व्यञ्जनों की आवृत्ति के कारण है अथवा स्वरव्यञ्जनसमुदाय की आवृत्ति के कारण, केवलमात्र इतने भेद से पृथक् अलंकार की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि इतने से भेद करना ही है तो यह एक अलंकार के दो भेद करके हो सकता है। अतः निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक को अनुप्रास का ही एक भेद कहना उचित होगा।

सार्थक तथा निरर्थक वर्णावृत्ति वाला यमक भी अनुप्रास से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसमें एक वर्णसमुदाय सार्थक अवश्य है परन्तु चमत्कार का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। उससे अर्थ निकलता है केवल इतनी बात है। परन्तु यह अर्थ अलंकार का अंग नहीं। अनुप्रास में चारुता उच्चारण-सादृश्य तथा वर्णध्वनि पर आश्रित है और यही बात इसमें है। अतः इसे भी अनुप्रास का एक भेद मानना उचित होगा।

अब यमक का तीसरा भेद रह जाता है। इसमें अर्थ-वैषम्य होता है। इसके पृथक् अलंकार होने के लिए भी यह आवश्यक है कि आवृत्ति अथवा वर्णसाम्य अर्थवैषम्य में चमत्कार लाए। अर्थ के वैषम्यमात्र से काम नहीं चल सकता। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा:—

"यदानतो ऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम्"

काव्यप्रकाश पृ० ५०७

वामनाचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है:—

"यस्यां पार्वत्याम् आनतः—प्रणतः अयं जनः नयात्ययं-नयस्य नीतेः अत्ययं नाशं नीतिविश्लेषमित्यर्थः न याति नाधिगच्छति। कुतः अयदाननः अयस्य शुभावहविधेर्दाननः दानात् अर्थात्तस्यैव पार्वत्यास्य शुभावहविधि-दानादित्यर्थः।" काव्य प्रकाश टीका पृ० ५०७

यहां अर्थवैषम्य है अवश्य परन्तु वह चमत्कारयुक्त नहीं तथा उसका कारण आवृत्ति नहीं। यहां अर्थवैषम्य का कारण भिन्न शब्दों का सन्निवेश है। 'यदानतो' में यद् तथा आनतो शब्द हैं। 'अयदानतो' में अय तथा दानतो शब्द हैं। इन भिन्न शब्दों से भिन्न अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है। यही कारण है कि यहां अर्थवैषम्य में चमत्कार नहीं। अर्थवैषम्य का चमत्कार तो दूर रहा यह कहना अनुचित न होगा कि यहां अर्थवैषम्य की प्रतीति ही नहीं होती। प्रतीति केवल यही होती है कि यहां विभिन्न शब्दों के समुदाय को समान उच्चारण का रूप दिया गया है। परन्तु यमक अलंकार के लिए इतना पर्याप्त नहीं। यह अलंकार तभी सम्भव है जब अर्थ-वैषम्य का कारण उन्हीं शब्दों की आवृत्ति हो तथा यह आवृत्ति चमत्कार का कारण हो। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक यमक का उदाहरण सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाता है कि इस श्लोक में चमत्कार अवश्य है तो हमारा उत्तर है कि यह चमत्कार आवृत्तिजनित अर्थवैषम्य के कारण नहीं अपितु वर्णध्वनि के कारण है। इसमें ऐसे सदृश वर्णों का विधान है जो प्रस्तुत भाव के अनुकूल हैं। जहां तक वर्णध्वनि के चमत्कार का सम्बन्ध है वह सदृश वर्णों के स्वभाव पर निर्भर करता है। उसका सम्बन्ध केवल इनके उच्चारण से होता है। इस उच्चारण के अन्तर्गत विभिन्न शब्द आते है या नहीं इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

आलंकारिकों ने यमक के अनेकों भेदोपभेद किये हैं। ये भेद सदृश वर्णों की व्यवस्था के भेद पर आश्रित हैं। सदृश वर्णों की यह व्यवस्था श्लोक में अनेक प्रकार से सम्भव है।

यमक तथा अनुप्रास का रसों से कैसा सम्बन्ध है इस विषय का आनन्द-वर्धन ने सविस्तर वर्णन किया है। उनके अनुसार इन अलंकारों का विधान

शृङ्गार रस के प्रतिकूल है। यमक को तो उन्होंने शृङ्गार में सर्वथा वर्जित बताया है। वे लिखते हैं:—

'शृङ्गारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात्।

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥" ध्वन्यालोक २। १४

"ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।

शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।" ध्वन्यालोक २। १५

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आनन्द का कथन है:—

"यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।" ध्वन्यालोक पृ० २२१

ध्वनिवादी अलंकार को वाह्य आभूषण मानते हैं। अतः इस दशा में यमक का प्रकरण से योग कठिन ही है। परन्तु यह बात तो सभी अलंकारों पर लागू होगी। ध्वनिवादी अलंकारों का स्वरूप बताकर औचित्य के आधार पर उनका रस आदि से सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस प्रकार अलंकारों को पहले बताकर वे फिर औचित्य को एक समन्वय की शृङ्खला के रूप में लाते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अनुकूलता का विचार पूर्व आता है और उसके आधार पर भाषा जो रूप धारण करती है उसी के कतिपय भेद अलंकार हैं। ऐसा मानने से अलकारों के प्रकरण-विरोध का परिहार हो जाता है।

लाटानुप्रासः—

लाटानुप्रास का प्राय: सभी आलंकारिकों ने वर्णन किया है। प्राचीन आलंकारिकों में भामह तथा उद्भट ने इसका वर्णन किया है। भामह में तो इसकी ओर केवल संकेतमात्र है परन्तु उद्भट में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। भट्टि, दण्डी, वामन तथा रुद्रट ने इसका वर्णन नहीं किया है। भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ आदि ने इसका वर्णन किया है।

लाटानुप्रास की परिभाषा प्राय: सभी आलंकारिकों की समान है। भोज की परिभाषा निम्नलिखित है:—

''अर्थाभेदे पदावृत्ति: प्रवृत्त्या भिन्नयेह या''—सरस्वतीकण्ठाभरण २।८१

मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है:—

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत:'—काव्यप्रकाश सू० ११२

अन्य आलंकारिकों की परिभाषाएं भी इसी के समान हैं। इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्रास में तीन तत्त्व हैं:—शब्दावृत्ति, अर्थसादृश्य तथा तात्पर्यभेद। शब्दावृत्ति को हम उच्चारणसादृश्य कह सकते हैं। शब्द वर्णों का समुदाय है। अत: जहां तक उच्चारण-साम्य का प्रश्न है, इसमें तथा यमक एवं अनुप्रास में कोई विशेष भेद नहीं। परन्तु इसमें अन्य दो विभेदक तत्त्व हैं। ये हैं अर्थ-सादृश्य तथा तात्पर्यभेद। इनको साथ मिलाकर भिन्न-तात्पर्यैकार्थसादृश्य कहा जा सकता है। केवल अर्थसादृश्य कहना पर्याप्त नहीं, क्योंकि यह तो पुनरुक्त दोष होता है। उच्चारण-साम्य के इसके तथा अनुप्रास के उपादानों में अर्थ की दृष्टि से अन्तर होता है। अनुप्रास में उच्चारण-साम्य के उपादान वर्णादि निरर्थक होते हैं परन्तु इसमें वे सार्थक होते हैं। इसी सार्थक वर्णसमुदाय के सादृश्य विधान से यह अर्थसादृश्य निकलता है। इस प्रकार इसमें अर्थतत्त्व भी होता है। इस सादृश्ययुक्त अर्थतत्त्व में तात्पर्यभेद अन्वय के कारण होता है। उदाहरणत: ''यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥''

—काव्यप्रकाश पृ० ४०१

इस श्लोक में 'दवदहनस्तुहिनदीधितिः' की आवृत्ति है। शब्दों का अर्थ भी दोनों दशाओं मे समान है परन्तु अन्वय करने पर तात्पर्य में भेद हो जाता है। पहली पंक्ति में तुहिनदीधिति उद्देश्य है तथा दवदहन विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है:—

"तुहिनदीधितिर्दवदहनोऽस्ति"

दूसरी पंक्ति में दवदहन उद्देश्य है तथा तुहिनदीधिति विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है:—"दवदहनस्तुहिनदीधितिरस्ति।" इसी बात को वामनाचार्य ने निम्न प्रकार से कहा है:—

"......पूर्वार्धे तुहिनदीधितौ दवदहनत्वं विधेयम्, उत्तरार्धे तु दवदहने तुहिनदीधितित्वं विधेयमित्युद्देश्यविधेयभावविपर्यासेन शाब्दबोधरूपान्वय-भेदात्तात्पर्यभेदोऽत्रेति बोध्यम्।" काव्यप्रकाश टीका पृ० ४९९

पहली पंक्ति में तुहिनदीधिति पर दवदहन का आरोप है तथा दूसरी पंक्ति में दवदहन पर तुहिनदीधिति का आरोप है। आरोप में लक्षणा होती है। इसे सारोपा लक्षणा कहा जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण "गौर्वा-हीकः" है। इसमें लक्ष्यार्थ जाड्य मान्द्य आदि गुण हैं।[1] ये गौ तथा वाहीक में समान रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार 'दवदहनस्तुहिनदीधिति' में भी लक्ष्यार्थ है। पूर्व पंक्ति में यह तापकरत्व के रूप में है तथा दूसरी पंक्ति में शीतलत्व के रूप में है। ऐसा होने पर भी पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति पर आरोप दवदहन का ही है तापकरत्व का नहीं तथा उत्तरार्ध में दवदहन पर आरोप तुहिनदीधिति का ही है शीतकरत्व का नहीं। यदि पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति पर तापकरत्व का आरोप हो तथा उत्तरार्ध में दवदहन पर शीतकरत्व का आरोप हो तो दोनों अर्थों में भेद हो जाए और इस प्रकार यह लाटानुप्रास न रहे। परन्तु यहां तापकरत्व अथवा शीतकरत्व का आरोप विवक्षित नहीं। अतः यह लाटानुप्रास ही है।

दोनों पंक्तियों में अर्थ का जो अभेद है वह अभिधेय अर्थ के द्वारा है लक्ष्यार्थ के द्वारा नहीं। पूर्वार्ध में दवदहन का अर्थ दावानल है तथा लक्ष्यार्थ तापकर है। उत्तरार्ध में तुहिनदीधिति का अभिधेय अर्थ चन्द्र है तथा लक्ष्यार्थ शीतकर है। यहां चमत्कार अभिधेय अर्थ के सादृश्य के

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४७–४८

कारण है। लक्ष्यार्थ यहां है अवश्य परन्तु वह गौण है तथा अभिधेय अर्थ का उपकारक है।

अभिधेय अर्थ के आरोप के अनुसार यहां दो रूपक बनते हैं। कुछ के अनुसार यहां दो उपमाएं हैं। चन्द्रिकाकार का यही मत है। उनके अनुसार 'तुहिनदीधितिर्दवदहनतुल्यः दवदहनस्तुहिनदीधितितुल्यः'[1] यह व्याख्या है। जैसा हो यहां चमत्कार न तो दो रूपकों पर आश्रित है और न दो उपमाओं पर अपितु भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थकशब्दावृत्ति पर आश्रित है।

दो वस्तुओं की पारस्परिक उपमा को उपमेयोपमा कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला।'[2]

यहां कमला को मति के समान तथा मति को कमला के समान कहकर यह सिद्ध किया है कि कोई तृतीय वस्तु इनके तुल्य नहीं। इस प्रकार यहां चमत्कार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के रूप में है और वह दो वस्तुओं के पारस्परिक सादृश्य के कारण है। परन्तु "यस्य न ...." में ऐसी बात नहीं। यहां तुहिनदीधिति को दावानल के समान बताकर तथा दावानल को तुहिनदीधिति के समान बताकर यह अभिप्राय नहीं कि इनके सदृश तृतीय वस्तु नहीं। तुहिनदीधिति को भी दवदहनतुल्य बताने में यह प्रयोजन नहीं कि उन दोनों में वस्तुतः सादृश्य है, परन्तु इसके विपरीत प्रयोजन यह है कि अवस्था-विशेष में तुहिनदीधिति दवदहन का सा आचरण करता है। अतः तात्पर्य दोनों के सादृश्य से न होकर अवस्था-विशेष के प्रभाव से है। अतः यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं।

इसी प्रकार दोनों में यदि रूपक मानें तो भी यह स्पष्ट है कि यहां चमत्कार पारस्परिक आरोप के कारण नहीं। अतः यह लाटानुप्रास नामक भिन्न अलंकार है।

रुय्यक का लाटानुप्रास का उदाहरण निम्नलिखित है:—'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।'

---

१. काव्यप्रकाशटीका पृ० ४ ६६

२. सर्वस्व पृ० २०

यहां कमल शब्द की आवृत्ति है। उसका अर्थ भी समान है। परन्तु पहला कमल उद्देश्य है तथा दूसरा विधेय है। पहले का सम्बन्ध 'रविकिरणानुगृहीतानि' से है तथा दूसरे का 'भवन्ति' से है।

यहां चमत्कार का कारण भिन्न तात्पर्य के साथ कमल शब्द की आवृत्ति है। कमल से कमल का सादृश्य चमत्कार का कारण नहीं। यदि कमल का कमल से सादृश्य अभिप्रेत हो तो अनन्वय हो जाएगा। अनन्वय में उसी वस्तु का उसी से सादृश्य दिखाकर अन्य सदृश वस्तु का निषेध किया जाता है। परन्तु कमल को कमल कहने से उपामानान्तरव्यवच्छेद से तात्पर्य नहीं। अतः यहां अनन्वय अलंकार नहीं।

निश्वनाथ ने लाटानुप्रास का अनन्वय से भेद बताते हुए इसी आवृत्ति का महत्त्व बताया है। उनका कथन है:—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्॥

साहित्यदर्पण पृ० ५२०

लाटानुप्रास में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि भी होती है। 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' में यह ध्वनि है। इसमें द्वितीय कमल शब्द शोभावत्त्वादि अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। शोभावत्त्वादि द्वितीय कमल का लक्ष्यार्थ है और इसका व्यंग्यार्थ है कमल का सार्थक होना। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि उपादान लक्षणा पर आश्रित होती है। उपादान लक्षणा में अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है।[1] 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। अचेतन होने के कारण कुन्त का प्रवेश से सम्बन्ध नहीं। अतः 'कुन्तयुक्ताः' अर्थ का आक्षेप होता है। यह लक्ष्यार्थ है। इसका व्यंग्यार्थ है पुरुषबाहुल्य। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में भी कमल शब्द लक्ष्यार्थ में संक्रमित हो जाता है और उससे व्यंग्यार्थ भी निकलता है। इतना होने पर भी यहां प्रधानता अलंकार की है। ध्वनि उसकी उपकारक है। अतः यह लाटानुप्रास का ही उदाहरण है।

---

१. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥, काव्य प्रकाश सू० १३

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषाम् समवायोऽत्र तिष्ठति ।'

काव्यप्रकाश पृ० ८३

'कुन्ता: प्रविशन्ति' काव्यप्रकाश पृ० ४३

प्रथम उदाहरण में 'वच्मि' उपदेशादि रूप में परिणत हो जाता है तथा द्वितीय मे कुन्त शब्द कुन्तयुक्त पुरुष में परिणत हो जाता है। इनके व्यंग्यार्थ क्रमश: 'हितसाधनत्व' तथा पुरुषबाहुल्य हैं।

इन उदाहरणों की तुलना 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' से करने पर परस्पर भेद स्पष्ट है। इन उदाहरणों में चमत्कार केवल ध्वनि के कारण है, परन्तु 'रविकिरणा······' में ध्वनि का सद्भाव होने पर भी यह कमल शब्द की आवृत्ति ही है जो चमत्कार का प्रधान कारण है।

अन्वय की दृष्टि से 'यस्य न सविधे······' तथा 'रविकिरणा······' की तुलना करने पर प्रतीत होगा कि पूर्व श्लोक में समान शब्दों का पारस्परिक अन्वय भिन्न है! यह अन्वय वाक्य के अन्य शब्दों के अन्वय पर निर्भर है। द्वितीय श्लोक में अन्वय की दृष्टि से समान शब्दों (कमल) का वाक्य के भिन्न शब्दों से सम्बन्ध है।

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत:' इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्रास के लिए आवश्यक है कि अन्वय-सम्बन्ध को अभिधेय अर्थ से भिन्न माना जाए। अभिहितान्वयवादी ऐसा ही मानते हैं। उनके अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वय का ज्ञान नहीं होता। इसके लिए एक अन्य वृत्ति की आवश्यकता है। यह तात्पर्यवृत्ति है।[1] इसके द्वारा शब्दों के अन्वय का ज्ञान होकर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अत: अभिहितान्वयवादियों के अनुसार लाटानुप्रास एक पृथक् अलंकार माना जा सकता है। यदि अन्वय की पृथक् सत्ता न मानकर उसे अभिधेय अर्थ के ही अन्तर्गत कर लिया जाए तो यह अलंकार सम्भव नहीं। उस दशा में शब्दों का असम्बद्ध रूप में अर्थ प्रतीत न होकर अन्वित रूप में होगा। यही अन्वित अर्थ उनका अभिधेय अर्थ होगा। ऐसा नहीं कि पदों के

१. विशेष विवेचन के लिए देखिए काव्यप्रकाश टीका पृ० २५

पृथक् पृथक् अर्थ निकलें और बाद में अन्वय के आधार पर उनको सम्बद्ध किया जाए। इस प्रकार इस दशा में 'भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक' शब्दावृत्ति कहना सम्भव नहीं होगा। यह तो तभी हो सकता है जब अन्वय पर आश्रित तात्पर्यार्थ अभिधेय से अतिरिक्त हो। अन्विताभिधानवादियों का यही मत है।[1] इनके अनुसार अन्वित शब्दों का ही अर्थ निकलता है। अतः अन्वय-ज्ञान के लिए किसी भिन्न व्यापार को मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार अन्वित अर्थ को अभिधेय अर्थ मानने से लाटानुप्रास में प्रयुक्त समान शब्दों का अर्थ भिन्न हो जाएगा। उन्हें भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक न कहकर भिन्नार्थक कहना होगा। यह भिन्नार्थकत्व तो यमक में भी होता है। इस प्रकार लाटानुप्रास का यमक से कोई भेद न होगा।

अन्विताभिधानवादियों का उपर्युक्त मत समीचीन नहीं। 'गामानय' इस वाक्य में अन्वित 'गाम्' शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर भी इस 'गाम्' शब्द का प्रयोग जब अन्य वाक्य में किया जाएगा तब यह जानने की आवश्यकता बनी ही रहेगी कि इस शब्द का किस शब्दविशेष से सम्बन्ध है। इस शब्द का अन्य शब्द से सम्बन्ध है केवलमात्र इतने से काम नहीं चल सकता। यह ज्ञान भी चाहिए कि वह शब्द कौनसा है जिससे इसका सम्बन्ध है। इसी आधार पर उद्योतकार ने इस मत का खण्डन किया है।[2]

अन्विताभिधानवादी व्यवहार का आश्रय लेकर कहते हैं कि बालक को वाक्यार्थ के रूप में ही अर्थज्ञान होता है, पृथक् पृथक् शब्दार्थ के रूप में नहीं। अतः अन्वय के पृथक् ज्ञान की आवश्यकता नहीं। परन्तु हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि श्लोकादि के अर्थज्ञान के लिए हमें ज्ञान की दो प्रक्रियाओं में से होना पड़ता है। पहली प्रक्रिया पृथक् पृथक् शब्दार्थज्ञान की है तथा दूसरी उनके अन्वयज्ञान की है। हमें प्रायः पृथक् पृथक् शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है परन्तु श्लोक के अर्थ का ज्ञान इसीलिए नहीं होता क्योंकि

---

१. 'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः'—काव्यप्रकाश पृ० २७

२. '.........अन्वितत्वेन शक्तावपि अन्वयविशेषभानायाकांक्षादिकमवश्यं कारणं वाच्यम्। एवं च विशेषरूपेणाशक्यस्यैव भानमिति त्वयाप्यवश्यं वाच्यमिति।'

उद्योत

काव्यप्रकाश टीका पृ० २७

उनके अन्वय का हमें ज्ञान नहीं। आरम्भ में व्यक्ति को शब्दार्थज्ञान किसी प्रकार ही हो ज्ञान की विकासशील स्थिति में अन्वय का पृथक् ज्ञान मानना ही पड़ेगा।

अतः अभिहितान्वयवादियों का मत समीचीन है और लाटानुप्रास जो अन्वयज्ञान की पृथक् सत्ता पर आश्रित है एक पृथक् अलंकार है।

आलंकारिकों ने नाम तथा पद के आधार पर इस अलंकार के भेद किये हैं। नाम प्रत्ययरहित होता है। इसे प्रातिपदिक कहते हैं। पद प्रत्यय-युक्त होता है। ये प्रत्यय सुप् तथा तिङ् के रूप में होते हैं। नाम में स्थित लाटानुप्रास नामगत कहलाता है तथा पद मे स्थित पदगत कहलाता है। मम्मट का लाटानुप्रास का भेद इसी प्रकार का है। पद के फिर दो भेद किए गए हैं। एक पद तथा अनेक पद। इस प्रकार पदगत लाटानुप्रास दो प्रकार का होता है। नाम की सत्ता समास में ही सम्भव है। अतः समासभेद के आधार पर इसके भेद किए गए हैं। ये नाम एक समास में हो सकते हैं अथवा भिन्न समासों में अथवा समास एवं असमास में।[1] इनमें मम्मट के पहले दो भेद तो नामगत कहे जा सकते हैं परन्तु समास एवं असमास वाले (वृत्त्यवृत्तिगत) भेद को नामगत कहना उचित नहीं। समासगत शब्द को तो नाम कहा जा सकता है परन्तु असमासगत शब्द नाम न होकर पद होगा। यदि पद में नाम की सत्ता मानकर नामगत लाटानुप्रास कहा जाता है तब तो प्रत्येक पद में नाम की सत्ता होने के कारण समस्त पदगत लाटानुप्रास नामगत लाटानुप्रास बन जाएंगे। अतः वृत्त्यवृत्तिगत लाटानुप्रास को नामगत कहना उचित नहीं। अतः मम्मटादि का लाटानुप्रास का वर्गीकरण उचित नहीं। नाम तथा पद के आधार पर लाटानुप्रास के भेद न करके स्वतन्त्र पद तथा परतन्त्र पद के आधार पर भेद करना उचित होगा। समासगत पद परतन्त्र होगा तथा असमस्त पद स्वतन्त्र होगा। समासगत पद तथा असमस्त पद दोनों मिलकर स्वतन्त्रपरतन्त्र पद कहलाएंगे। इस प्रकार लाटानुप्रास के तीन भेद हो जाएंगे—स्वतन्त्रपदाश्रय, परतन्त्रपदाश्रय तथा स्वतन्त्रपरतन्त्रपदाश्रय। उद्भट ने लाटानुप्रास का विभाजन इसी प्रकार किया है। इन भेदों के उन्होंने फिर अन्य भेद किये हैं। स्वतन्त्रपदाश्रय के दो भेद किए हैं—एकैकपदाश्रय तथा

१. वृत्तौ अन्यत्र तत्र वा। नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च। काव्यप्रकाश सू० ११५

पदसमुदायाश्रय । परतन्त्रपदाश्रय के भी दो भेद किए हैं:—एकपदाश्रय, पदद्वितयाश्रय। इस प्रकार इनके अनुसार लाटानुप्रास के कुल पाँच भेद हैं।[१] मम्मट के अनुसार भी इसके कुल पांच भेद होते हैं परन्तु दोनों के विभाजन-प्रकारों मे साधारण अन्तर है।

१. एवमयं पञ्चविधो लाटानुप्रासः प्रतिपादितः। स्वतन्त्रपरतन्त्राणां तस्य प्रत्येकं द्विभेदत्वात् स्वतन्त्रपरतन्त्रयोश्च समुदितयोरेकप्रकारत्वात्। लघुवृत्ति पृ० १०

शब्दालंकारों की प्राचीनता का कारण

शब्दालङ्कारों की उत्पति उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन कविता की उत्पत्ति है। इसका कारण यह है कि कविता के विषय तथा शब्दालङ्कारों के विषय में एक नियत सम्बन्ध है। कविता का विषय हृदय की अनुभूति होता है तथा शब्दालङ्कारों का विषय उच्चारण का सादृश्य-विधान है। हृदय की अनुभूति तथा उच्चारण के सादृश्यविधान में गहरा सम्बन्ध है। हृदय की अनुभूति की अवस्था में समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण करता है और फलतः उच्चरित भाषा में एक साम्य होता है। स्नायुमण्डल की समान अवस्था में उच्चरित भाषा का जो स्वरूप होता है उसमें एक साम्य होना स्वाभाविक है।

हृदय की अनुभूति की अवस्था में समस्त स्नायुमण्डल झंकृत हो जाता है। अतः इस स्थिति में उच्चरित भाषा में एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह एक प्रकार का साम्य ही है। कविता में छन्दों का जो विधान है वह इसी तथ्य का परिचायक है। छन्दों में स्वरों के आरोहावरोह का ध्यान रखा जाता है।। स्वरों के इस आरोहावरोह के फलस्वरूप भाषा में एक प्रवाह आ जाता है।

अनुभूति के समय कवि के हृदय की अवस्थाएं प्रधानतः दो प्रकार की होती हैं। ये हैं उल्लास तथा विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है तब वह गाता है और जब विह्वल होता है तब रोता है। इस प्रकार इन अवस्थाओं में उसकी भाषा में एक लय तथा साम्य होते हैं। भाषा का यह साम्य चित्तवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है। इसके लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। जो साम्यविधान पृथक् प्रयत्न का परिणाम होता है वह प्रस्तुत चित्तवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण अनुचित होता है।

कवि की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होती है उतना ही अधिक उसकी भाषा में साम्य होता है। यही कारण है कि स्तोत्रों में जहां कवि की तन्मयता चरम सीमा को पहुँच जाती है हमें भाषा में अत्यन्त साम्य देखने को मिलता है।

ऋग्वेद में शब्दालंकार

अनुभूति तथा उच्चारण-साम्य में इस नियत सम्बन्ध के फलस्वरूप हमें ऋग्वेदकालीन कविता में भी भाषा के सादृश्यविधान तथा उसके कतिपय स्वरूप शब्दालङ्कारों के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है:—

'परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये।
वयो न वसतीरुप'॥ १।२५।४

'अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा'॥ १।२५।११

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्।
न देवमभिमातयः॥ १।२५।१४

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥
१।१४३।३

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। १०।१४।७

शब्दों की आवृत्ति भाषा के सादृश्य के अन्तर्गत आती है। इस आवृत्ति का ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। इससे अर्थ में एक विशेष चमत्कार आ गया है।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ १।२५।७

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥ १।२५।८

यहां 'वेद' शब्द की आवृत्ति हुई। इससे ज्ञान का आधिक्य व्यक्त होता है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंह-
द्यः पर्वतान्प्रकुपितान् अरम्णात्।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात्स जनासः इन्द्रः ॥ २।१२।२

यहां 'यः' की आवृत्ति हुई है। इससे इन्द्र के भिन्न भिन्न रूप क्रमशः हमारे सम्मुख आते हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १०।९०।१

यहां 'सहस्र' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे शीर्ष आदि के बाहुल्य के साथ साथ उनकी संख्या में समानता प्रतीत होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों में आवृत्ति से जो चमत्कार उत्पन्न होता है उसमें आवृत्ति के साथ साथ आवृत्त शब्द का अर्थ भी जुड़ा हुआ है। अर्थज्ञान से रहित आवृत्तिमात्र यहां चमत्कार की जनक नहीं हो सकती। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में चमत्कारोत्पत्ति के लिए उच्चारणसाम्य तथा उच्चरित शब्दों के अर्थ इन दोनों के ज्ञान की अपेक्षा है।

रामायण एवं महाभारतः—

रामायण तथा महाभारत में प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रासों का प्रयोग हुआ है।

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ बाल काण्ड

एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्।
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः॥ ,,

सर्वे भवन्तस्सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः।
पत्नीभिस्सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ ,,

कृष्णः कमलपत्राक्षः कंसकालियसूदनः। आदि पर्व

प्रथम श्लोक में तकार तथा वकार की सकृत् आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है। इसी प्रकार द्वितीय श्लोक में भी सकार की सकृत् आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। तृतीय तथा चतुर्थ श्लोकों में क्रमशः स तथा क की असकृत् आवृत्ति है। अतः वहां वृत्त्यनुप्रास है।

रामायण तथा महाभारत में प्रायः शब्दो की आवृत्ति हुई है तथा उससे अर्थ में चमत्कार आ गया है। इस आवृत्ति के स्वरूप तथा उस आवृत्ति से निकलने वाले अर्थ के प्रकार की दृष्टि से अनेक भेद सम्भव हैं। आवृत्ति के प्रकार की दृष्टि से प्रधानतः तीन भेद सम्भव हैं। कभी कभी समस्त आवृत्त शब्द स्वतन्त्र होते हैं, कभी कभी उनमें से एक अथवा अधिक स्वतन्त्र होते हैं तथा अन्य समास के अंग होने के नाते परतन्त्र होते हैं। कभी कभी वे सब समास के अंग होने के नाते परतन्त्र होते हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्द स्वतन्त्र हैं:—

'एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याऽधिको लोके तपसश्च परायणम्॥' बालकाण्ड

'भवान् पिता भवान् माता भवान्नः परमो गुरुः।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम्॥' आदि पर्व

प्रथम श्लोक में 'एष:' की आवृत्ति हुई है। इससे राम के भिन्न भिन्न स्वरूप क्रमशः हमारे सम्मुख आते हैं। द्वितीय श्लोक में 'भवान्' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीष्म को क्रमशः भिन्न भिन्न रूपों में चित्रित किया गया है।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्दों में से एक शब्द स्वतन्त्र है तथा अन्य परतन्त्र हैं:—

'गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदाऽनघः।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः॥' अयोध्या काण्ड

"तथोक्तवति सा काले वायुमेवाजुहाव ह।
तस्यां जज्ञे महावीर्यो भीमो भीमपराक्रमः॥" आदि पर्व

प्रथम उदाहरण में 'शत्रुघ्नः' शब्द की आवृति हुई है। इसमें प्रथम शत्रुघ्न शब्द स्वतन्त्र है तथा द्वितीय परतन्त्र है। आवृत्ति के कारण यहां शत्रुघ्न के नाम की अन्वर्थता व्यक्त होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में भीम शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीम के नाम की अन्वर्थता व्यक्त होती है।

इन उदाहरणों में शब्दों की आवृत्ति चमत्कारोत्पत्ति का आवश्यक अंग है। शत्रुघ्न तथा भीम के नामों की अन्वर्थता-प्रतीति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि उनमें विद्यमान गुणों का निर्देश कर दिया जाए परन्तु यह भी आवश्यक है कि यह निर्देश उन्हीं शब्दों के द्वारा हो।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्द परन्त्र हैं:—

'ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम्॥ बालकाण्ड

कृतदारा कृताश्चाश्च सधनास्ससुहृज्जनाः। बालकाण्ड

अथाम्बिकेयस्सामात्यः सकर्णस्सहसौबलः।
सात्मजः पार्थनाशस्य स्मरंस्तथ्यं जहर्ष ह॥ आदि पर्व

उपर्युक्त श्लोकों में महत्, कृत आदि शब्द समास के अंग होने के नाते परतन्त्र हैं। प्रथम श्लोक में महत् की आवृत्ति हुई है। इससे महत्ता का उत्कर्ष व्यक्त होता है। द्वितीय उदाहरण में कृत तथा सह की आवृत्ति हुई है। समास में होने के कारण सह का स रह गया है। इस आवृत्ति से समृद्धि का आधिक्य व्यक्त होता है। तृतीय उदाहरण में भी यह बात है।

आवृत्ति से व्यक्त अर्थ की दृष्टि से आवृत्ति अनेक प्रकार की हो सकती है। विश्वनाथ ने इस दृष्टि से आवृत्ति अथवा कथितपद का निरूपण किया है।[1] रामायण तथा महाभारत में आवृत्ति से व्यक्त होने वाले अर्थ अनेक प्रकार के हैं। ये क्रमिक विभिन्नरूपसम्पन्नता, उत्कर्ष, अनुकूलता, सार्थकता आदि हैं।

निभिन्नरूपसम्पन्नता की व्यक्ति की दशा में विशेष्य की आवृत्ति होती है। 'एषः विग्रहवान् धर्मः.........' 'भवान् पिता.........' आदि पूर्वोक्त श्लोकों में यही बात है। इन में 'एषः' 'भवान्' आदि विशेष्य हैं।

उत्कर्ष की व्यक्ति की दशा में विशेषणों की आवृत्ति होती है। 'प्रादुर्भूतं महद्भूतं.........' 'कृतदारा.........' 'अथाम्बिकेयस्सामात्यः......' आदि श्लोकों में यही बात है।

कभी कभी आवृत्त विशेषणों में से एक के साथ निषेधभाव जोड़कर प्रत्येक अवस्था की व्यक्ति की जाती है:—

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा॥ बालकाण्ड

यहां अकृतास्त्र कृतास्त्र का सर्वथा विपरीत है। इससे यह व्यक्त होता है कि राम ऐसी अवस्था में हों अथवा इसके सर्वथा विपरीत अवस्था में हों अर्थात् वे किसी भी अवस्था में क्यों न हों राक्षस इनका सामना नहीं कर सकते।

अनुकूलता, सार्थकता आदि की व्यक्ति की दशा में आवृत्त शब्दों में से एक शब्द विशेषण अथवा धर्म होता है तथा अन्य विशेष्य अथवा धर्मी होता है। 'शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो.........' 'तस्यां जज्ञे महावीर्यो भीमो भीम-पराक्रमः' इन उदाहरणों में यही बात है। इनमें प्रथम शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेष्य हैं तथा द्वितीय शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेषण के अंग हैं।

१. कथितं च पदं पुनः। विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि। दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे गुण इत्येव। यथा...........'साहित्यदर्पण पृ० ४३३

काव्यकाल में शब्दालंकार

काव्यकाल के पूर्ववर्ती कवियों तथा काव्यकालीन कवियों में शब्दालंकारों का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है। प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रास प्रयुक्त हुए हैं। अश्वघोष, कालिदास आदि पूर्ववर्ती कवियों में इनका प्रयोग सीमित है। तथा माघ, हर्ष आदि काव्यकालीन कवियों में इनका प्रयोग प्रचुर है। एक प्रकार से कालक्रम के अनुसार इन अलंकारों के प्रयोग में हमे विकास देखने को मिलता है।

अश्वघोष ने निम्नलिखिति श्लोक में वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग किया है:—
'केचिद्भुजंगैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन'। बुद्धचरित ७। २५

निम्नलिखित श्लोक में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग है:—
'स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः'।

—बुद्धचरित ७। ४६

कालिदास ने छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास अन्त्यानुप्रास का स्थान स्थान पर प्रयोग किया है:—

'अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥'

—रघुवंश १। १२

'पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥'

—रघुवंश २। ७४

'विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥' रघुवंश २। ९

प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'प्र' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है तथा द्वितीय पंक्ति में 'प्र' की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'भ' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। तृतीय श्लोक में आद्य स्वर अ के साथ स्य की पद तथा पाद के अन्त में आवृत्ति होने के कारण पदान्त तथा पादान्त अन्त्यानुप्रास है।

कालिदास ने वर्णध्वनि का पूर्ण ध्यान रखा है। ओजोवर्णन के अवसर पर कठोर वर्णों का तथा माधुर्यवर्णन के अवसर पर कोमल वर्णों का प्रयोग करके उन्होंने भाव तथा भाषा में एक सामञ्जस्य स्थापित किया है:-

'बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥'

रघुवंश २। ३२

'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।'

—रघुवंश २। ४७

प्रथम श्लोक में ओजोवर्णन के अनुकूल कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है। यहां संयुक्त वर्ण द्ध तथा अन्य वर्ण श, ष्, ट् आदि कठोरता के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घ समास का प्रयोग भी ओजस् की अभिव्यक्ति में सहायक है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में क्रमशः कठोरता तथा कोमलता की अभिव्यक्ति हुई है। इस पंक्ति के प्रथम चरण में कठोरता के अनुरूप कठोर वर्णों का तथा द्वितीय चरण में कोमलता के अनुरूप कोमल वर्णों का प्रयोग हुआ है। इस पंक्ति के पठन अथवा श्रवणमात्र से क्रमशः इन कठोर तथा कोमल भावों का पता चल जाता है।

भवभूति इस वर्णध्वनि के चित्रण में अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। उनका 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' श्लोक इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इस वर्णध्वनि का चित्रण किया है। एक ही श्लोक में चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ उन्होंने भाषा में परिवर्तन करके भाव तथा भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है:—

भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में इन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है:-

'भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः॥'

किरात १। २८

'निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसितांगसंगिना।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्॥' माघ १। २८

'क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥' नैषध १ । ६७

प्रथम श्लोक में छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है। द्वितीय श्लोक में च की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में वर्णों के सादृश्य-विधान के द्वारा भाषा में एक अद्भुत प्रवाह आ गया है तथा संगीत का सा आनन्द आता है। तृतीय श्लोक में भी यही बात है। माघ तथा श्रीहर्ष वर्णों के इस सादृश्यविधान में सिद्धहस्त हैं। इन दोनों कवियों की भाषा भावों के सर्वथा अनुरूप है। निम्नलिखित उदाहरण इसके समर्थक हैं:—

'बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥'

माघ १ । ५४

'पतत्पतंगप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥'

माघ १ । १२

'स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य संगरे ।
निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे ॥'

नैषध १ । ९

प्रथम श्लोक में ओजस् का वर्णन है। अतः उसके अनुरूप कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में तपोनिधि के नीचे उतरने का वर्णन है तथा द्वितीय पंक्ति में भगवान् कृष्ण के खड़े होने का वर्णन है। इस प्रकार इन दोनों पंक्तियों में गति का वर्णन है। परन्तु इन गतियों के प्रकार में अन्तर है। प्रथम गति में एक क्रम तथा समानता है। यह गति एक प्रकार से सरकने के रूप में है। अतः इसके द्योतक वर्ण भी कोमल तथा प्रवाहयुक्त हैं। द्वितीय गति इसके विपरीत अत्यन्त द्रुत तथा एक क्षण भर की है। ऐसी गति के समय समस्त स्नायुमण्डल में एक तनाव होना स्वाभाविक है। अतः इसके सूचक वर्ण भी कठोर हैं। इसी प्रकार तृतीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में ओजोवर्णन के अनुकूल कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है।

गद्य काव्य:—

संस्कृत के गद्य काव्यों में इन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उच्चारण-साम्य, प्रवाह, लय आदि कविता की जो विशेषताएं होती हैं वे सब इनमें विद्यमान हैं। यही कारण है कि गद्यग्रन्थ काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। यही नहीं, संस्कृत गद्य की इन विशेषताओं को देखकर आलोचकों ने यहां तक कह दिया कि गद्य कवियों की कसौटी है।[1]

दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी वर्णों के सादृश्यविधान के लिए सुप्रसिद्ध हैं। इन्होंने अधिकतर कोमल वर्णों का प्रयोग किया है। इन कोमल वर्णों के सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा में लालित्य, संगीत का माधुर्य तथा प्रवाह देखने को मिलता है। 'दण्डिनस्तु पदलालित्यम्' यह उक्ति उपर्युक्त कथन की समर्थक है। निम्नलिखित उदाहरण में पदों का अपूर्व लालित्य है:—

"विरोधिदैवधिक्कृतपुरुषकारो दैन्यव्याप्ताकारो मगधाधिपतिरधिकाधिरमात्यसंमत्या मृदुभाषितया तया वसुमत्या मत्या कलितया च समबोधि।"

—दशकुमार चरित पृ० ११

यहां कोमल वर्णों तथा स्वरों के सादृश्यविधान के द्वारा भाषा में संगीत का सा प्रवाह है।

प्रसिद्ध गद्यलेखक बाण भी भाषा के सादृश्यविधान के लिए प्रसिद्ध हैं। इस सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा में प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रासों का प्रयोग हुआ है:—

'आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरश्चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता प्रतापानुरागावनतसमस्तसामन्तचक्रः······ कर्ता महाश्चर्याणामाहर्ता क्रतूनामादर्शः सर्वशास्त्राणामुत्पत्तिः कलानां कुलभुवनं गुणानामागमः काव्यामृतरसानामुदयशैलो मित्रमण्डलस्योत्पातकेतुरहितजनस्य प्रवर्तयिता गोष्ठीबन्धानामाश्रयो रसिकानां प्रत्यादेशो धनुष्मतां धौरेयः साहसिकानामग्रणीर्विदग्धानां वैनतेय इव विनतानन्दजननो वैन्य इव चापकोटिसमुत्सारितसकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम।'

—कादम्बरी पृ० ८—१०

---

१. 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'।

यहां 'मालामेखलाया' 'भुवो भर्ता' तथा 'समस्तसामन्तचक्र:' में क्रमश: मकार, भकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। इससे उच्चारण में एक साम्य की प्रतीति होती है। 'महाश्चर्याणाम्, क्रतूनां, शास्त्राणां, कलानां, गुणानां तथा रसानाम् में प्रत्येक के अन्त में आनाम् का सन्निवेश करके साम्य उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार मित्रमण्डलस्य तथा अहितजनस्य में से प्रत्येक के अन्त में अकार के बाद स्य का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग अन्त्यानुप्रास के अन्तर्गत आते हैं। गोष्ठीबन्धानां, रसिकानां आदि में भी यही बात है। 'वैनतेय इव विनतानन्दजननो' तथा 'समुत्सारितसकलाराति' में क्रमश: वकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास हैं। इस प्रकार स्वरों एवं वर्णों के सादृश्यविधान के द्वारा उपर्युक्त गद्यांश में अपूर्व भाषा-सौष्ठव प्रतीत होता है।

बाण ने स्वरों एवं वर्णों के इस साम्य के अतिरिक्त वाक्यों एवं वाक्यांशों के विन्यास में भी एक साम्य उपस्थित किया है। जहां उन्होंने दीर्घ वाक्यों का प्रयोग किया है वहां उनके प्राय: सभी वाक्य दीर्घ एवं समासयुक्त मिलेंगे। परन्तु जहां छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है वहां प्राय: सभी वाक्य छोटे तथा समासविहीन अथवा अल्पसमासयुक्त मिलेंगे। यही बात वाक्यांशों के प्रयोग पर चरितार्थ होती है। वाक्यों एवं वाक्यांशों की इस एकरूपता के फलस्वरूप उनकी भाषा में एक साम्य तथा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'क्व ते तद्धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजय:। क्व तद्वशित्वं चेतस:। क्व सा प्रशान्ति:। क्व तत्कुलक्रमागतं ब्रह्मचर्यम्।............। सर्वथा निष्फला प्रज्ञा। निर्गुणो धर्मशास्त्राभ्यासो, निरर्थक: संस्कारो निरुपकारको गुरूपदेशविवेको निष्प्रयोजना प्रबुद्धता निष्कारणं ज्ञानं यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषंगै: कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते'।

यहां छोटे वाक्यों तथा वाक्यांशों का प्रयोग हुआ है और फलत: भाषा में एक प्रवाह आ गया है।

गीतगोविन्द:—

भाषा के साम्यविधान की दृष्टि से जयदेव के गीतगोविन्द का विशिष्ट स्थान है। इसमें स्वरों एवं वर्णों का ऐसा अद्भुत साम्य है कि समस्त

श्लोक एक ही ध्वनि की शृङ्खला प्रतीत होता है। भाषा के इस साम्य-विधान के अतिरिक्त इसमें भावों एवं भाषा की अनुरूपता का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। भाषा एवं भावों में ऐसा मञ्जुल सामञ्जस्य है कि भाषा के श्रवणमात्र से भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है:—

'ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥' गीतगोविन्द

यहां कोमल वर्णों के सादृश्यविधान के द्वारा कोमल अथवा मधुरभाव की स्वतः अभिव्यक्ति हो रही है। यहां हरि के विहार तथा नृत्य का मधुर वर्णन किया गया है। यह माधुर्य अर्थ तक ही सीमित नहीं अपितु भाषा में भी यह ओतप्रोत है। यहां केवल हरि ही नृत्य नहीं कर रहे हैं अपितु उनके नृत्य की अभिव्यञ्जक भाषा भी नृत्य कर रही है।

जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में सरस एवं कोमल भावों की अभिव्यञ्जना की है। अतः उनकी भाषा में तदनुकूल सरसता एवं कोमलता दृष्टिगोचर होती है। जयदेव अपनी कोमलकान्त पदावली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनका निम्नलिखित श्लोक उन पर सर्वथा चरितार्थ होता है:—

'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥'

गीतगोविन्द

उनके श्लोकों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि विभिन्न अनुप्रासों का जो सुन्दर प्रयोग हुआ है वह भाषा एवं भावों की इस अनुरूपता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्तोत्र साहित्य:—

स्तोत्रसाहित्य में भाषा एवं भावों की अनुरूपता तथा भाषा का सादृश्य-विधान अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। स्तोत्रों की अभिव्यक्ति कवि की मार्मिक अनुभूति तथा तन्मयता के परिणाम हैं। इस अनुभूति तथा तन्मयता के समय कवि के हृदय में केवल एक ही भावना रहती है और

वह है अपने आराध्यदेव के प्रति भक्ति की तीव्रता। भक्ति की यह तीव्रता यद्यपि आराध्य देव की महत्ता से उत्पन्न होती है और इस महत्ता के कतिपय कारण भी हैं परन्तु कवि का उद्देश्य इन कारणों के आधार पर आराध्यदेव की महत्ता का प्रतिपादन करना न होकर केवल अपने भावों के वेग के लिए अनुरूप भाषा ढूंढना होता है। इस भाषा में यद्यपि महत्ता के कारण भी प्रसंगवश आ जाते हैं परन्तु वे केवल गौण होते हैं। कवि का प्रधान उद्देश्य अपने समस्त भाषण-अवयवों को हृदय की अनुभूति के अनुरूप बनाकर उस अनुभूति को भाषण-अवयवों के माध्यम के द्वारा प्रवाहित करना होता है। ऐसी दशा में स्वरों एवं वर्णों का आरोहावरोह एवं साम्यविधान स्वाभाविक है।

कवि जहां अपने आराध्यदेव के कोमल रूप का वर्णन करता है वहां उसकी भाषा भी कोमल एवं मधुर होती है परन्तु जहां वह अपने आराध्य देव के ओजस्वी रूप का वर्णन करता है वहां उसकी भाषा कठोर एवं परुष होती है। निम्नलिखित उदाहरण में कठोर भाषा का प्रयोग इसी बात को लक्ष्य करके हुआ है:—

'जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजंगमस्फुरद्धगद्धगद्विनिर्गमत्करालभालहव्यवाट्। धिमिद्धिमिद्धिमिध्वनन्मृदङ्गतुङ्गमंगलध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डवः शिवः।'

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १७३

स्तोत्रसाहित्य में भाषा के साम्यविधान के फलस्वरूप छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि प्रायः सभी शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है:-

"गोविन्दं गोकुलानन्दं गोपालं गोपिवल्लभम्। गोवर्धनोद्धरं धीरं तं वन्दे गोमतीप्रियम्॥

नारायणं निराकारं नरवीरं नरोत्तमम्। नृसिंहं नागनाथं च तं वन्दे नरकान्तकम्॥"

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ८९

यहां प्रथम श्लोक में ग की तथा द्वितीय श्लोक में न की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। प्रथम श्लोक में ग के साथ ओ की भी आवृत्ति हुई है। इतना ही नहीं इन दोनों श्लोकों के प्रायः प्रत्येक पद के अन्त में अनुस्वार का विधान करके उच्चारण-साम्य में और अधिक वृद्धि की गई है। प्रत्येक श्लोक के अन्तिम पद से पूर्व 'तं वन्दे' का प्रयोग भी

सादृश्यविधान में सहायक है। इस प्रकार यह समस्त स्तोत्र सादृश्यों एवं अन्तःसादृश्यों की एक सुन्दर शृङ्खला है।

अन्त्यानुप्रास का स्तोत्रसाहित्य में स्थान स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ हैः—

'नित्यानन्दकरी परा भयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी। प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥' —स्तोत्ररत्नाकर पृ० ६४-६७

'विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखरधारणाय। कर्पूर-कान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १८३-१८४

प्रथम स्तोत्र में अ के बाद री की आवृत्ति से तथा द्वितीय स्तोत्र में आ के बाद य की आवृत्ति से उच्चारण की दृष्टि से एक सुन्दर साम्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त प्रथम स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी' का सन्निवेश तथा द्वितीय स्तोत्र में प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय' का सन्निवेश भी इन स्तोत्रों में विद्यमान उच्चारण-साम्य में सहायक है।

इन स्तोत्रों में कहीं कहीं पाद अथवा पद के अन्त में व्यञ्जनसहित स्वर की आवृत्ति न होकर केवल स्वर की आवृत्ति हुई है। यह आवृत्ति भी साम्यविधान में सहायक हैः—

'नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वरूपे। नमस्ते जगद्वन्द्यपादारविन्दे नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥······॥"
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ५३

इस स्तोत्र में यही बात है।

स्तोत्रसाहित्य में कतिपय स्तोत्र आराध्य देव के प्रति भक्तिभावना के फलस्वरूप अभिव्यक्त न होकर ज्ञानस्थिति के अनुभूतिरूप में परिणत होने के फलस्वरूप अभिव्यक्त हुए हैं। वेदान्तस्तोत्र इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी स्तोत्रों की उपर्युक्त सामान्य विशेषताएं मिलती हैं।

श्रीमच्छंकराचार्य के निम्नलिखित स्तोत्र से यह स्पष्ट हैः—

"भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।
दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः । भज गोविन्दं० ॥"

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ४१२-४१५ ।

यहाँ शब्दों की आवृत्ति तथा अन्त्यानुप्रास का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में शब्दालंकारों का विकास

अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में भरतमुनि का नाटयशास्त्र सबसे प्राचीन है। इस ग्रन्थ में शब्दालङ्कारों में केवल यमक का निरूपण है। इससे हम यही अनुमान लगाते हैं कि यमक से आरम्भ होकर शब्दालङ्कारों का क्रमिक विकास हुआ।

यमक की परिभाषा नाटचशास्त्र में निम्न प्रकार से की गई है:—

"शब्दाभ्यासः यमकम्" ।।

इस परिभाषा में केवल उच्चारणसाम्य की ओर संकेत है। परन्तु इस परिभाषा के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें से अनेक में हमारा ध्यान अंशतः अर्थचमत्कार की ओर भी जाता है। इस अर्थतत्त्व को परिभाषा का अङ्ग नहीं बनाया गया है। यह अर्थतत्त्व यमक के उदाहरणों में दो रूपों में मिलता है—अर्थसादृश्य के रूप मे तथा अर्थवैदग्ध्य के रूप में। निम्न-लिखित उदाहरण में अर्थतत्त्व का प्रथम रूप है:—

केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवरकाननहस्ती।
केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवरकाननहस्ती ।।

—नाटयशास्त्र १७-७०।

निम्नलिखित उदाहरण में अर्थतत्त्व का द्वितीय रूप है:—

फुल्ले फुल्ले सभ्रमरे वाभ्रमरे वा
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च।

नाटचशास्त्र १७-६८।

नाटचशास्त्र में यमक के अनेक उदाहरणों में अर्थगत इस आंशिक चमत्कार का होना स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि जहां उच्चारण-सादृश्य होता है वहां अनेक दशाओं में अर्थगत आंशिक चमत्कार भी सम्भव है। यदि उच्चारणसादृश्य का क्षेत्र एक आध व्यञ्जन की आवृत्ति

तक सीमित रहे तब तो हमारा ध्यान केवल उच्चारणसादृश्य तक सीमित रहता है परन्तु उस क्षेत्र में यदि स्वरों एवं व्यञ्जनों के समुदाय की आवृत्ति आ जाए तो हमारा ध्यान अर्थगत चमत्कार की ओर भी जा सकता है। स्वरों एवं व्यञ्जनों के समुदाय की आवृत्ति के फलस्वरूप समान उच्चारण वाले जो विभिन्न शब्द बनते हैं उनके अर्थगत सादृश्य अथवा वैषम्य पर भी हम विचार करने लगते हैं।

इस प्रकार उच्चारणसादृश्य होने पर चमत्कार की तीन अवस्थाएं होती हैं—केवल उच्चारणसादृश्य का चमत्कार, उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थ-सादृश्य का आंशिक चमत्कार तथा उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थवैषम्य का आंशिक चमत्कार। नाट्यशास्त्र में चमत्कार की इन तीनों अवस्थाओं के आधार पर अलङ्कारों का निरूपण न होकर उच्चारणसादृश्य के आधार पर केवल एक यमक का निरूपण किया गया है। इस प्रकार वहां इन तीनों अवस्थाओं को एक में मिला दिया गया है।

भामह के शब्दालङ्कारों के निरूपण पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बनने वाले तीन अलङ्कारों की पृथक्ता तो अंशतः स्वीकार की है, परन्तु उस पृथक्ता का आधार उपर्युक्त सिद्धान्त को न बताकर उच्चारण-सादृश्य के स्वरूपभेद को बताया है। भामह ने पहले अनुप्रास एवं यमक इन दो शब्दालङ्कारों का निर्देश किया है।[1] इसके बाद ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास का उल्लेख किया है जो भामह के अनुसार अनुप्रास के भेद प्रतीत होते हैं।[2] अनुप्रास के इन भेदों को यदि पृथक् अलङ्कार मान लिया जाए अथवा ग्राम्यानुप्रास को अनुप्रास कह दिया जाए तथा लाटीयानुप्रास को पृथक् अलङ्कार कहा जाय तो तीन

१. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवाऽन्यैरुदाहृताः॥

—काव्यालङ्कार २–४

२. ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।

—काव्यालङ्कार २–६

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।

—काव्यालङ्कार २–८

अलङ्कार हो जाते हैं। इस प्रकार भामह के मत एवं इन तीनों अलङ्कारों के पृथक्तासम्बन्धी मत में विशेष अन्तर नहीं।

पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को इन अलङ्कारों पर लागू करके हम कह सकते हैं कि अनुप्रास में केवल उच्चारणसादृश्य होता है, लाटीयानुप्रास अथवा लाटानुप्रास में उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है तथा यमक में उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थवैषम्य होता है। भामह ने इन अलङ्कारों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें ये तत्त्व विद्यमान हैं।[1] परन्तु इन अलङ्कारों के भामह ने जो लक्षण किए हैं उनमें केवल उच्चारणसादृश्य के स्वरूपविशेष की ओर संकेत है। भामह ने अनुप्रास का लक्षण 'सरूपवर्ण-विन्यासः'[2] किया है। अतः वर्णसाम्य को भामह अनुप्रास कहते हैं। यमक को भामह ने पदाभ्यास कहा है।[3] अतः पदसाम्य उनके अनुसार यमक है। वर्णसाम्य तथा पदसाम्य उच्चारणसाम्य के भेद हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भामह ने उच्चारणसाम्य के भेदों को शब्दालङ्कारों के विभाजन का आधार बनाया है। परन्तु साथ में यदि हम यह कहें कि भामह शब्दालङ्कारों के विभाजन के समय पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त का भी अप्रत्यक्ष रूप से अनुसरण कर रहे थे तो अनुचित न होगा। भामह के शब्दालङ्कारों के उदाहरणों पर इस सिद्धान्त का पूर्णतः लागू होना हमारे इस मत को पुष्ट करता है।

अपने शब्दालङ्कारों के लक्षणों में पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को न अपनाकर उच्चारणसादृश्य के भेदसम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाने से भामह का शब्दालङ्कार-

---

१. काव्यालङ्कार में अनुप्रास, लाटीयानुप्रास तथा यमक के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं:—

किं तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम्। २–५

दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः।—२–८

साऽधुना साधुना तेन राजताऽराजताऽऽभृता।

सहितं सहितं कर्तुं सङ्गतं सङ्गतं जनम्॥—२–११

२. काव्यालङ्कार २–५

३. देखिये काव्यालङ्कार २–९

विवेचन सन्तोषजनक नहीं हो सका है। भामह ने अनुप्रास एवं यमक का भेद वर्णसाम्य एवं पदसाम्य के भेद पर आश्रित बताया है। परन्तु जहां तक उच्चारणसाम्य का प्रश्न है इस दृष्टि से हमें इन दोनों अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। अतः केवल वर्णसाम्य एवं पदसाम्य के भेद के आधार पर इन दोनों अलङ्कारों का भेद सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। दूसरे केवल उच्चारणसादृश्य के भेदों के आधार पर शब्दालङ्कारों का विवेचन करने से लाटीयानुप्रास को अनुप्रास तथा यमक से पृथक् मानने का कोई आधार नहीं रह जाता। भामह के लाटीयानुप्रास में पदसाम्य है। अतः भामह के अनुसार वह यमक के अन्तर्गत चला जाना चाहिए। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है।

भामह के शब्दालङ्कारविवेचन में जो दोष थे उनका निराकरण उद्भट ने कुछ अंशों तक कर दिया है। उद्भट ने भामह के उच्चारणसादृश्य के सिद्धान्त को अधिक समीचीनता के साथ अपनाया है तथा इस सिद्धान्त के साथ अर्थसादृश्य के सिद्धान्त की भी उद्भावना की है। उद्भट के अनुसार उच्चारणसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार छेकानुप्रास तथा अनुप्रास हैं।[1] यमक का उन्होंने निरूपण नहीं किया क्योंकि उच्चारणसादृश्य के भेद के आधार पर किए हुए भामह के अनुप्रास तथा यमक के पृथक्करण की असमीचीनता सम्भवतः उन्होंने समझ ली और अर्थवैषम्य के आंशिक चमत्कार की ओर उनका ध्यान नहीं गया। उच्चारणसादृश्य तथा अर्थसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार को उन्होंने लाटानुप्रास कहा तथा इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया।[2]

उच्चारणसादृश्य के प्रसङ्ग में उद्भट ने एक प्रमुख सिद्धान्त का निरूपण

---

१. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ। —काव्यालङ्कारसारसंग्रह १–३

अनुप्रास पर की हुई इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है कि उसमें उच्चारणसादृश्य होता है:—सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।

पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥—लघुवृत्ति पृष्ठ ४

२. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।

शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ॥—काव्यालङ्कारसारसंग्रह १–८

किया है। यह सिद्धान्त है उच्चारण का भावानुकुल होना।[1] उद्भट का अनुप्रास इसी तत्त्व पर आश्रित है। परवर्ती आलङ्कारिकों ने अपने वृत्त्यनुप्रास का निरूपण उद्भट के इसी अनुप्रास के आधार पर किया है।

वस्तुतः देखा जाए तो केवल उच्चारणसादृश्य का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं। काव्य में जहां जहां उच्चारणसादृश्य होता है वहां वहां उच्चारण का भावानुकूल होना समीचीन है। परन्तु नाट्यशास्त्र में केवल उच्चारणसादृश्य का निरूपण कर दिया गया था। अतः उच्चारण तथा भावों के सादृश्यसम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण करने पर भी उद्भट परम्परा से आते हुए सिद्धान्त का निराकरण नहीं कर सके और उस पर आश्रित छेकानुप्रास की उन्होंने सत्ता स्वीकार की। यह छेकानुप्रास कालान्तर में भी चलता रहा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उद्भट के समय में अनुप्रास तथा लाटानुप्रास ने लगभग आधुनिक तथा परिष्कृत रूप प्राप्त कर लिया था। परन्तु यमक के परिष्कृत रूप का आविर्भाव अभी शेष था। इसका आविर्भाव हमें वामन के काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में मिलता है। वामन ने यमक की परिभाषा निम्नप्रकार से की है:—

"पदमनेकार्थाक्षरं वावृत्तं स्थाननियमे यमकम्"।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४-१-१

इस परिभाषा में अनेकार्थता अथवा अर्थवैषम्य का स्पष्ट उल्लेख है। रुद्रट तथा भोज ने भी यमक में इस अर्थवैषम्य का निर्देश किया है।[2] मम्मट ने यमक की परिभाषा में यमक के इस नवीन रूप तथा प्राचीन रूप का सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यमक में अर्थवैषम्य का निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह अर्थवैषम्य वहां प्रत्येक दशा में आवश्यक नहीं।

१. इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है:—
तासु च रसाद्यभिव्यक्त्यानुगुण्येन पृथक् पृथगनुप्रासो निबध्यते।

—लघुवृत्ति पृष्ठ ६

२. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य" ॥ —काव्यालङ्कार ३-१

"विभिन्नार्थैकरूपाया यावृत्तिर्वर्णसंहतेः"। —सरस्वतीकण्ठाभरण २-५८

यह अर्थवैषम्य तभी होगा जब विभिन्न वर्णों का कोई अर्थ निकलता हो। अर्थ न निकलने पर उनके अनुसार यमक में अर्थवैषम्य का प्रश्न नहीं उठता। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"।

—काव्यप्रकाश सूत्र ११७

यमक के निरूपण के समय रुय्यक में हमें मम्मट की यह सामञ्जस्य-बुद्धि नहीं दिखाई देती। मम्मट ने यमक की परिभाषा में नवीन दृष्टिकोण को स्थान देकर उसका आदर तो किया था, रुय्यक ने तो प्राचीनता के मोह में इस नवीनता का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सूत्र ६

इस परिभाषा में अर्थवैषम्य की ओर संकेत नहीं।

तृतीय अध्याय

अर्थालंकारों में सादृश्य

कवि का एक उद्देश्य प्रायः वस्तु के दर्शन से उत्पन्न अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। इस दशा में वह वस्तु का स्वरूपनिबन्धन न करके प्रतिभास-निबन्धन करता है। यदि मुख उसका वर्ण्यविषय है तो वह मुख का बाह्य और स्थूल वर्णन न करके मुखदर्शन से उत्पन्न अपनी सौन्दर्यभावना को अभिव्यक्त करेगा। यह सौन्दर्यभावना मुखदर्शन से उत्पन्न अवश्य हुई है परन्तु इसमें कवि की कल्पना का अंश मिला हुआ है। यह सौन्दर्यभावना बाह्य सौन्दर्य से भिन्न है। अतः सुन्दर शब्द के प्रयोग के द्वारा इसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कवि अपने वर्णन के द्वारा पाठक को उसी सौन्दर्यानुभूति की मानसिक स्थिति में ले जाना चाहता है जिसमें वह मुखदर्शन के द्वारा पहुँचा है। 'मुख सुन्दर है' इस प्रयोग के द्वारा पाठक उस स्थिति में नहीं पहुँचाया जा सकता। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि कवि मुख से सादृश्य रखने वाली ऐसी वस्तुओं का वर्णन करे जिनका वर्णन पाठक को अभीष्ट भाव की अनुभूति कराने में समर्थ हो। इस बात को ध्यान में रखकर रुद्रट कहते हैं:—

'सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥'[1]

मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओं से मुख का सादृश्य बताता है जो लोक में अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन वस्तुओं के साथ सादृश्य के वर्णन से पाठक को वह सौन्दर्यानुभूति सहज ही हो जाती जो 'मुख सुन्दर है' केवल इतना कहने से सम्भव नहीं। चन्द्र कमल आदि के साथ सौन्दर्य की भावना जुड़ी हुई है। ये सौन्दर्य के उपमान हैं। उपमान की परिभाषा इस प्रकार है:—

"साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम्" बालबोधिनी पृ० ५४५

---

१. काव्यालंकार ८। १

चन्द्र, कमल आदि का सौन्दर्य लोक में प्रसिद्ध है। अतः 'मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी सौन्दर्य-भावना जागृत हो जाती है। 'मुखं सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी जो स्थूल भावना थी वह अब कल्पना के जगत् में पहुँच जाती है और इस प्रकार हम कवि की मानसिक स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। अतः सादृश्यविधान एक माध्यम है जो पाठक को कवि की मनोभूमि तक पहुँचाता है।

इस सादृश्यविधान को अपनाकर कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वे ही सादृश्यमूलक अलंकार हैं। भावों की अभिव्यक्ति में इन अलंकारों का प्रमुख हाथ है। संस्कृत के आलंकारिकों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है। अर्थालंकारों के विवेचन में उन्होंने इनके जो मूल तत्त्व निर्धारित किए हैं उनमें सादृश्य को प्रमुख माना है।

रुद्रट ने अर्थालंकारों के चार मूल तत्त्व माने हैं। ये वास्तव, अतिशय, औपम्य तथा श्लेष हैं।[1] इस प्रकार इन चारों तत्त्वों में औपम्य अथवा सादृश्य भी एक तत्त्व है। रुद्रट ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य एवं स्मरण को इसी औपम्य के भेद माना है।[2]

दण्डी का उपमा अलंकार का विवेचन अत्यन्त विस्तृत है। इन्होंने उपमा के अनेक भेद किए हैं। परवर्ती आलंकारिकों ने इन्हें स्वतन्त्र अलंकार बना दिया है। दण्डी की अन्योन्योपमा, अद्भुतोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, असाधारणोपमा, प्रतिवस्तूपमा, मोहोपमा तथा उत्प्रेक्षितोपमा परवर्ती आलंकारिकों के क्रमशः उपमेयोपमा, अतिशयोक्ति, सन्देह, निश्चय, अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान् तथा प्रतीप अलंकार हैं। दण्डी का उपमा-संबंधी यह विस्तृत विवेचन इन अनेक अलंकारों की सादृश्यमूलकता का परिचायक है।

---

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्यालंकार १। ७

२. उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः॥
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः।
पूर्वंसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः॥ काव्यालंकार ८। २, ३

वामन ने समस्त अलंकारों को उपमाप्रपञ्च कहकर[1] उनकी सादृश्य-मूलकता स्पष्टतः स्वीकार की है। रुय्यक ने अर्थालंकारों के मूल तत्त्वों में औपम्य को माना है। विद्यानाथ ने भी इसे एक तत्त्व माना है।[2] उन्होंने इसके लिए साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।[3] अप्पयदीक्षित ने अनेक अलंकारों को उपमा के भेद बताकर अलंकारों की सादृश्यमूलकता स्वीकार की है। उनके अनुसार एक उपमा ही भिन्न भिन्न रूप धारण करती हुई भिन्न भिन्न अलंकारों में परिवर्तित हो जाती है।[4] यही नहीं उन्होंने तो यहां तक कह दिया है कि जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उपमा से भी हो जाता है।[5]

अनेक आलंकारिकों ने वक्रोक्ति अथवा अतिशय को अलंकारों का मूल तत्त्व माना है। भामह की वक्रोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ही।[6] यह वक्रोक्ति एक

---

१. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः—काव्यालंकारसूत्र ४। ३। १

२. 'अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम्—केचित् प्रतीयमानवास्तवाः, केचित् प्रतीयमानौपम्याः, केचित् प्रतीयमानरसभावादयः, केचिदस्फुटप्रतीयमाना इति।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४५

३. 'साधर्म्यं त्रिविधम्—भेदप्रधानम्-अभेदप्रधानम्, भेदाभेदप्रधानं चेति।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४६

४. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभेदेनानेकालंकारभावं भजते। तथा हि चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा……। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः………मुखस्य पुरतः चन्द्रो निष्प्रभ इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकालंकारविवर्तवतीयमुपमा॥' चित्रमीमांसा पृ० ६

५. 'तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥' —चित्रमीमांसा पृ० ६

६. 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥'

—भामहालंकार २। ८५

प्रकार का अतिशय है। 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी'[1] कहकर दण्डी ने इस अतिशय को स्वीकार किया है। अभिनव के अनुसार यह अतिशय 'सर्वालंकारसामान्यरूपम्' है।[2] मम्मट ने इसके लिए 'प्राणत्वे-नावतिष्ठते'[3] शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय का तो यह प्राण ही है।

सादृश्य की इस अतिशय के साथ तुलना करने पर प्रतीत होगा कि अनेक अवस्थाओं में सादृश्य इस अतिशय के मूल में रहता है। अतिशय का प्रयोजन भी कवि की अनुभूति को पाठक तक पहुँचाना होता है। यदि भुजाओं की दीर्घता कवि का वर्ण्य विषय है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसमें अतिशय लाना आवश्यक हो जाता है। यह अतिशय दीर्घतारूपी साधारणधर्म के आधार पर होता है। कवि ऐसे उपमान का वर्णन करता है जिसमें साधारणधर्म का अतिशय हो। साधारणधर्म से असम्बद्ध अन्य वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता। अतिशय उस वस्तु को मानकर चलता है जिसका अतिशय अभिप्रेत है और यह वस्तु साधारणधर्म ही सम्भव है। यह साधारणधर्म प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में सम्बन्ध स्थापित करता है। जो साधारणधर्म प्रस्तुत में अल्पमात्रा में रहता है वही अप्रस्तुत में अतिशयित मात्रा में रहता है। इसीलिए उपमान की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है:—

'अधिकगुणवत्त्वेन सम्भाव्यमानमुपमानम्' बालबोधिनी पृ० ५४५

भुजाओं की दीर्घता को अभिव्यक्त करने के लिए उनका अर्गला से सादृश्य दिखाकर अतिशय का वर्णन इसीलिए किया जाता है क्योंकि अर्गला में दीर्घतारूपी साधारणधर्म का अतिशय है। और इस अतिशय का प्रयोजन भी यही है कि दीर्घता के अतिशय से युक्त अर्गलाओं-सदृश भुजाओं के वर्णन से हम कल्पना की उस स्थिति में पहुँच जाएं जिसमें कवि दीर्घ

---

१. 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥' काव्यादर्श २। २१४

२. History of Sanskrit Poetics—P. 65

३. 'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते'······।
काव्यप्रकाश पृ० ७४३

भुजाओं के दर्शन से पहुँचा है और फलतः हमारी तथा कवि की कल्पना-स्थितियों में साम्य स्थापित हो जाए। यद्यपि दीर्घता की दृष्टि से भुजा तथा अर्गला में मात्रा-भेद है परन्तु कवि तथा पाठक की कल्पनाजन्य स्थितियों में यह भेद प्रतीत नहीं होता।

"सादृश्य के लिए आकृतिगत साम्य आवश्यक अथवा नहीं"

सादृश्यविधान का उद्देश्य कल्पनाजन्य इसी सदृश भाव की अनुभूति कराना होता है। 'मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्' से उद्देश्य मुख एवं चन्द्र के स्थूल अथवा आकृतिगत सादृश्य से न होकर मुखदर्शन तथा चन्द्रदर्शन से उत्पन्न कल्पनाजन्य इनके सौन्दर्यसम्बन्धी सादृश्य से है। कल्पनाजन्य इस सादृश्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में आकृतिगत पूर्ण सादृश्य हो। जहां प्रतिपाद्य भाव का आकृति से सम्बन्ध होता है वहां न्यूनाधिक रूप में आकृतिगत साम्य अवश्य अपेक्षित है परन्तु जहां इसका आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं वहां इस साम्य की आवश्यकता नहीं।

भुजाओं की दीर्घता को व्यक्त करने के लिए उनके उपमान में आकृति-साम्य अपेक्षित है। दीर्घता स्थूल शरीर का धर्म है और आकृति के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः इस भाव को व्यक्त करने के लिए सादृश्य-विधान में आकृतिसाम्य आवश्यक है। भुजाओं का उपमान अर्गला है। इनकी आकृति में अन्य वैषम्य भले ही हो दीर्घता की दृष्टि से आंशिक साम्य अवश्य है।

जहां साधारणधर्म का आकृति से सम्बन्ध नहीं होता वहां इस आकृति-गत सादृश्य की आवश्यकता नहीं। वीरता, उदारता, दानशीलता आदि धर्मों का आकृति से सम्बन्ध नहीं। अतः इनकी अभिव्यक्ति के लिए उपमान में आकृतिसाम्य आवश्यक नहीं। वीरता की अभिव्यक्ति के लिए पुरुष की तुलना सिंह से की जाती है, यथा—'पुरुषः सिंह इव वीरः'। यहां पुरुष तथा सिंह में आकृतिगतसाम्य नहीं। वीरता आत्मा का गुण है। शरीर का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। कहीं कहीं स्थूल शरीर वाले व्यक्ति में वीरता को देखकर यह समझना कि इसकी आकृति ही वीर है उचित नहीं। मम्मट

का यही मत है।[1] अतः वीरता आदि की अभिव्यक्ति के लिए आकृतिगत साम्य की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न उठता है कि 'Face is the index of mind' इत्यादि उक्तियां आकृति तथा भावों में निश्चित सम्बन्ध स्थापित करती हैं। अतः यह कहना कहां तक उचित है कि वीरता आदि धर्मों का आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं ?

इसका उत्तर इस प्रकार है:—उपर्युक्त उक्ति में भावों तथा आकृति का जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह प्रायः भावों की उद्दीप्त स्थिति को लक्ष्य करके दिखाया गया है, मनुष्य के स्वभाव के अंग बने हुए भावों को लक्ष्य करके नहीं दिखाया गया। मनुष्य की आकृति से जिन भावों का पता चलता है वे प्रायः ऐसे उद्दीप्त भाव हैं जो अपने इस उद्दीपन के फलस्वरूप आकृति में अन्तर उत्पन्न कर देते हैं। आकृति से कतिपय ऐसे भावों का भी पता चल सकता है जो मनुष्य के स्वभाव के अंग बन गए हैं, परन्तु ऐसे भाव इने गिने ही होते हैं। अतः इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि आकृति उन समस्त भावों की परिचायक है जो मनुष्य के चरित्र के अन्तर्गत आते हैं।

शारीरिक अवयवों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए इस आंशिक आकृतिगत साम्य का ध्यान रखा जाता है। केशपाश, नासिका आदि के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उनका सादृश्य क्रमशः सर्प, शुकचञ्चु आदि से दिखाया जाता है। इन उपमानों में अपने उपमेयों के साथ आंशिक आकृतिगत साम्य है। इसका कारण यही है कि यह सौन्दर्य-भावना आकार-जन्य है। प्रस्तुत आकृति ही कल्पना का विषय बनकर सौन्दर्य का रूप धारण करती है। यह सौन्दर्यभावना यद्यपि एक आन्तरिक भावना है परन्तु इसमें उस विषय की वह स्थूल रूपरेखा बनी रहती है जिससे यह उत्पन्न होती है।

---

१. "आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य……।क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्याहरन्ति……।" काव्यप्रकाश पृ० ६४

उपमानों का क्षेत्र

सादृश्यविधान के लिए कवि समस्त विश्व को अपनी कल्पना का क्षेत्र बनाता है और उसमें से उपयुक्त उपमानों का चयन करता है। इस चयन के समय अपनी अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति तो उसका प्रमुख उद्देश्य रहती ही है, इसके साथ साथ वह कविपरम्परागत रूढियों का भी ध्यान रखता है। अप्पयदीक्षित तथा हेमचन्द्र ने इसका समर्थन किया है।[1]

कतिपय उपमान कविपरम्परानुसार किसी अर्थ में रूढ हो जाते हैं। इनके श्रवणमात्र से पाठक को अभीष्ट अर्थ की अनुभूति हो जाती है। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए इनका आश्रय लेता है। कमल, कोकिलस्वर आदि क्रमशः मुख, मधुर संगीत आदि के उपमान के अर्थ में रूढ हो गए हैं। इनके प्रयोग से पाठक को मुख के सौन्दर्य तथा संगीत के माधुर्य की अनुभूति सहज ही हो जाती है। अतः उक्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि बिना प्रयत्न के ही इनका चयन कर लेता है। इस प्रकार रूढियां कवि की भावाभिव्यक्ति तथा पाठक की भावानुभूति में सरलता लाती हैं।

कभी कभी कवि की भावाभिव्यक्ति के लिए एक वस्तु उपमान के रूप में पर्याप्त नहीं होती। अतः वह कई वस्तुओं का चयन करके उनका उचित समन्वय करता है तथा इन्हें एक संश्लिष्ट उपमान का रूप देता है।

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥"

कुमारसम्भव १।४४

यहां ओष्ठ पर बिखरी हुई हंसी उपमेय है। इसके लिए संश्लिष्ट उपमान की योजना की गई है। यह 'प्रवालोपहितं पुष्पम्' अथवा 'विद्रुमस्थं मुक्ताफलम्' के रूप में है।

कभी कभी कवि को वस्तुओं का वर्णन न करके उनके पारस्परिक संबंध

---

१. "कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेनोपमानोपमेयत्वयोग्ययोरेव साधर्म्यमुपमा। अत एव 'कुमुदमिव मुखं प्रसन्नम्' इत्यादि नोपमा······।" चित्रमीमांसा पृ० ७

"प्रसिद्धमुपमानमप्रसिद्धमुपमेयम्। प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी च कविविवक्षावशादेव।"

काव्यानुशासन पृ० ३४१

का वर्णन करना होता है। इसके लिए वह ऐसी वस्तुओं का उपमान के रूप में चयन करता है जिनका पारस्परिक संबंध प्रस्तुत संबंध को अभिव्यक्त कर सके। ऐसी दशा में उसका प्रमुख उद्देश्य सम्बन्धों का सादृश्य व्यक्त करना होता है। सम्बद्ध वस्तुओं का सादृश्य केवल गौण होता है तथा वह प्रधान सादृश्य का अंग होता है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥' शाकुन्तल १। १०

यहां प्रधान सादृश्य मृगशरीर तथा बाण के सम्बन्ध एवं तूलराशि तथा अग्नि के सम्बन्ध में है। मृगशरीर तथा बाण में नाश्यनाशक सम्बन्ध है तथा तूलराशि एवं अग्नि में दाह्यदाहक सम्बन्ध है। दाह्यदाहक भाव नाश्य-नाशक भाव का एक अंग है। अतः नाश्यनाशक सम्बन्ध तथा दाह्यदाहक सम्बन्ध में सादृश्य है। मृगशरीर का तूलराशि से तथा बाण का अग्नि से सादृश्य इसमें केवल गौण है तथा प्रधान सम्बन्ध का उपकारक है। मृगशरीर तथा तूलराशि में कोमलता एवं बाण तथा अग्नि में कठोरता का भिन्न भिन्न सादृश्य दिखाने से उतना प्रयोजन नहीं जितना मृगशरीर तथा बाण के एवं तूलराशि तथा अग्नि के पारस्परिक सम्बन्धों का सादृश्य दिखाने से है। कोमलता की दृष्टि से तो मृगशरीर का सादृश्य पुष्प से भी दिखाया जा सकता है, परन्तु उस दशा में पुष्प तथा अग्नि के सम्बन्ध में दाह्यदाहक भाव की दृष्टि से वह चमत्कार नहीं रहेगा जो तूलराशि के प्रयोग से विद्यमान है।

वस्तुओं का यह पारस्परिक सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है—अनुकूल रूप से, प्रतिकूल रूप से तथा असम्भव रूप से। उपर्युक्त उदाहरण में यह प्रतिकूल रूप से है। मृग तथा बाण का सम्बन्ध प्रतिकूल है। अतः उसका सादृश्य तूलराशि तथा अग्नि के प्रतिकूल सम्बन्ध से दिखाया गया है।

अनुकूल सम्बन्ध निम्नलिखित श्लोक में है:—

"राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाभवत्॥" रसगंगाधर पृ० २४३

यहां युधिष्ठिर तथा लोकों का एवं मधुमास तथा द्रुमों का सम्बन्ध

अनुकूल है। अतः प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य दूसरे सम्बन्ध से दिखाया गया है। रसगंगाधरकार ने इन दोनों संबंधों का निरूपण किया है।[1]

असम्भव सम्बन्ध का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव चानलः।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसम्भावितोपमा" ॥— चित्रमीमांसा पृष्ठ ९

यहां मुख तथा वाक् का, चन्द्रबिम्ब तथा विष का, एवं चन्दन तथा अनल का जन्यजनक सम्बन्ध असम्भव है। अतः प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य अन्य दो सम्बन्धों से दिखाया गया है। यहां सादृश्य मुख से उत्पन्न वाणी तथा चन्द्र से उत्पन्न विष में न होकर मुख तथा वाणी के सम्बन्ध एवं चन्द्र तथा विष के सम्बन्ध में है और इस सादृश्य का कारण है साधारणधर्म की असम्भाविता। विश्वेश्वर का भी यही मत है।[2]

यदि यह असम्भाविता चन्द्र से उत्पन्न विष तथा मुख से उत्पन्न परुषता में हो तो उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ होना चाहिए कि मुख से उत्पन्न परुषता चन्द्र से उत्पन्न विष के समान असम्भव है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ है कि इस मुख से परुष वाक् की उत्पत्ति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब से विष की उत्पत्ति। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस मुख तथा परुष वाक् का जन्यजनक सम्बन्ध उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब तथा विष का जन्यजनक सम्बन्ध। अतः साधारणधर्म असम्भाविता के आधार पर सादृश्य उस प्रकार की वाणी तथा उस प्रकार के विष में न होकर इस मुख तथा परुष वाणी के सम्बन्ध एवं चन्द्रबिम्ब तथा विष के सम्बन्ध में है।

उपमानों के चयन के लिए यह आवश्यक नहीं कि अमूर्त वस्तुओं के उपमान अमूर्त हों तथा अचेतन के अचेतन हों। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि मूर्त वस्तुओं के उपमान मूर्त हों तथा चेतन के चेतन

---

१. "उपमानयोः परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेवोपायता निरूपिता। प्राति-कूल्ये उपायता यथा ....।" रसगंगाधर पृ० २४४

२. "एवं च 'असम्भावितोपमा' इत्यस्य असम्भावितोपमानकत्वं नार्थः, किन्तु असम्भावितत्वं तदुपमायां साधारणधर्म इत्येव"—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ११

हों। मूर्तता तथा अमूर्तता एवं चेतनता तथा अचेतनता का विषय उपमान-चयन के क्षेत्र से बाह्य है। कवि प्रायः अमूर्त वस्तुओं का सादृश्य मूर्त वस्तुओं से दिखाते हैं। कीर्ति तथा स्मित अमूर्त वस्तुएं हैं, परन्तु उनका सादृश्य क्रमशः हंसी तथा पुष्प से दिखाया जाता है:—

"हंसीव धवला कीर्तिः स्वर्गंगामवगाहते" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ८

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥"

—कुमारसम्भव १।४४

अचेतन का चेतन से सादृश्य तो अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। इसका कारण कवि की मानसिक स्थिति है। कवि अपने भावों का आरोप प्रकृति पर करता है और उसे चेतन के रूप में व्यवहार करते देखता है। उसे प्रकृति में अपने भावों की झांकी देखने को मिलती है। यदि वह आनन्दित है तो प्रकृति उसे आनन्दित प्राणी का आचरण करती हुई प्रतीत होती है और यदि वह दुःखी है तो प्रकृति में उसे वैसा ही आचरण दिखाई देता है।

"मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥"

—रघुवंश २।१०

यहां लताओं का सादृश्य पौरकन्याओं से दिखाया गया है और वे पुष्पवर्षा करती हुई दिखाई गई हैं।

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥"

—रघुवंश ३।२३

यहां निश्चल नूपुर का दुःखी प्राणी से सादृश्य व्यंग्य है तथा दुःख के कारण उसे मौन दिखाया गया है।

मूर्त वस्तुओं का अमूर्त से तथा चेतन का अचेतन से सादृश्य भी काव्यों में अनेक स्थलों पर मिलता है:—

"तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ।।"

—रघुवंश २ । १६

यहां धेनु का सादृश्य श्रद्धा से दिखाया गया है ।

"स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ।।"

—रघुवंश २ । १९

यहां पाटला गौ का सादृश्य धातुमयी अधित्यका से तथा केसरी का सादृश्य प्रफुल्ल लोध्रद्रुम से दिखाया गया है ।
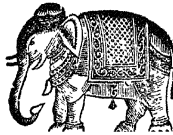
सादृश्यमूलक अलंकारों के मूल में विद्यमान सादृश्य का स्वरूप तथा उसके भेद

वस्तु की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए कवि जब सादृश्यविधान करता है तब उसका कल्पनाजन्य सादृश्यज्ञान भिन्न भिन्न रूप धारण करता है और उसी के अनुसार भिन्न भिन्न अलंकारों की अभिव्यक्ति होती है। 'अमुक वस्तु अमुक वस्तु के सदृश है' यह सादृश्यज्ञान यद्यपि उन सब ज्ञानों में अनुस्यूत रहता है, परन्तु उसके रूप भिन्न भिन्न होते हैं। कभी यह ज्ञान अनुभव का रूप धारण करता है तथा कभी स्मृति का। ज्ञान के ये दो प्रकार ही माने गए हैं:—

"सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्चेति। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः।"

तर्कसंग्रह पृ० २१

स्मृति की दशा में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह स्मरणालंकार होता है।

अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ:—

"स द्विविधः—यथार्थायथार्थश्च।" तर्कसंग्रह पृ० २३

अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का होता है:—संशय, विपर्यय तथा तर्क—
"अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशयविपर्ययतर्कभेदात्।"

तर्कसंग्रह पृ० ५६

जहां तक कवि के अनुभव का सम्बन्ध है उसे हम लौकिक दृष्टि से न तो यथार्थ कह सकते हैं और न अयथार्थ ही। कवि का यह अनुभव सत्य को आधार मानकर चलता है परन्तु इसकी सीमाएं उससे परे हैं। इस प्रकार कवि की दृष्टि से तो यह अनुभव सत्य है ही लौकिक दृष्टि से भी इसे असत्य नहीं कहा जा सकता।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा। यदि मुख का सौन्दर्य कवि का वर्ण्य विषय है तो कवि इन अलंकारों में क्रमशः 'मुखं कमलमिव' 'मुखं कमलम्' 'मुखं कमलं मन्ये' 'इदं मुखम्' आदि प्रयोग करेगा। इन सब

प्रयोगों की दशा में कवि को यह ज्ञान बना रहेगा कि यह मुख ही है जिसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। यह कभी नहीं होता कि कवि मुख को मुख से भिन्न वस्तु समझकर उसके आधार पर आचरण करने लगे।

यही नहीं ससन्देह तथा भ्रान्तिमान् अलंकारों में भी जिनके नाम क्रमशः संशय तथा विपर्यय के द्योतक हैं कवि का अनुभव अयथार्थ ज्ञान की कोटि में नहीं आता। ससन्देह अलंकार में कवि को जो संशय होता है वह लौकिक संशय से भिन्न होता है। यह कल्पनाजन्य होता है। अतः कवि को इस अवस्था में प्रस्तुत वस्तु का ज्ञान बना रहता है। जहां यह संशय कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होता है वहां यह वास्तविक होता है और फलतः अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आता है।

भ्रान्तिमान् अलंकार में भ्रान्ति कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होती है। कवि को यह भ्रान्ति कभी नहीं हो सकती। कारण यह है कि कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना होता है। अतः यह आवश्यक है कि उसे उस वस्तु का ज्ञान बना रहे। भ्रान्ति में यह सम्भव नहीं। भ्रान्ति में एक वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। अतः यदि कवि को भ्रान्ति हो तो वह प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझकर उस अन्य वस्तु का ही वर्णन करेगा और फलतः वह पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत वस्तु का चित्र ही अंकित नहीं कर सकेगा।

सादृश्य-प्रतीति की अवस्था में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह उपमा है। मुखं कमलमिव इसका उदाहरण है। इस अवस्था में उपमेय तथा उपमान के कतिपय अवयवों में ऐक्य तथा कतिपय में अनैक्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यह भेद तथा अभेद प्रतीति की अवस्था है।

इस अवस्था में भेद-प्रतीति तथा अभेद-प्रतीति पर समान बल रहता है। कभी कभी यह बल भेदप्रतीति पर अधिक हो जाता है। यह भेद उपमेय के आधिक्य के रूप में प्रतीत होता है। इस अवस्था में व्यतिरेक अलंकार की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखं कमलादतिरिच्यते' इसका उदाहरण है।

उपमालंकार की सादृश्यप्रतीति उत्तरोत्तर बढ़ते बढ़ते ताद्रूप्यप्रतीति तक पहुँचती है। इसे अरोप की अवस्था कहते हैं। सादृश्यप्रतीति की अवस्था

में तो कुछ अवयवों में विभिन्नता बनी रहती है परन्तु इसमें वह सर्वथा लुप्त हो जाती है। उपमेय तथा उपमान के अवयव सर्वथा समान हो जाते हैं। इस अवस्था में रूपक की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखं कमलमस्ति' इसका उदाहरण है। यहां मुख कमल के समान ही नहीं अपितु तदाकार बन गया है।

इस अवस्था में अवयवों अथवा धर्मों की भेदप्रतीति यद्यपि लुप्त हो जाती है, परन्तु अवयवियों अथवा धर्मियों की भेदप्रतीति बनी रहती है। यद्यपि मुख का कमल से तादूप्य स्थापित हो जाता है परन्तु दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् बनी रहती है। मुख की सत्ता कमल की सत्ता में विलीन नहीं होती। अतः सादृश्य की यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है तथा उपमेय (धर्मी) का निगरण प्रारम्भ होता है।

उपमेय की इस निगरण-प्रक्रिया में उत्प्रेक्षालंकार की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था को आलंकारिकों ने अध्यवसाय[1] की साध्यावस्था कहा है। इस अवस्था में विषय का निगरण होकर विषय तथा विषयी की सर्वथा अभेदप्रतिपत्ति नहीं होती परन्तु इस अभेदप्रतिपत्ति की ओर हमारी मानसिक प्रक्रिया उन्मुख हो जाती है। 'मुखं कमलं मन्ये' के द्वारा इस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। इसमें मुख तथा कमल की पृथक् सत्ता बनी हुई है। जहां तक स्वरूप का प्रश्न है दोनों के स्वरूप भिन्न बने हुए हैं, परन्तु प्रतीति कमल की ही होती है। अतः रुय्यक ने इसे प्रतीति-निगरण कहा है।[2]

निगरण की यह प्रक्रिया उपमेय के निगीर्ण होने पर तथा उपमान का अध्यवसाय होने पर समाप्त होती है। उत्प्रेक्षा में जो अध्यवसाय साध्य था वह अब सिद्ध हो जाता है। इस अवस्था में व्यापार की प्रधानता न होकर अध्यवसित उपमान की प्रधानता होती है।[3] व्यापार तो सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में अभिव्यक्त अलंकार अतिशयोक्ति कहलाता है। 'इदं कमलम्' इसका उदाहरण है। यहां मुख की सत्ता कमल में विलीन हो

---

१. "विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः"—सर्वस्व पृ० ५३

२. "विषयस्य निगरणं स्वरूपतः प्रतीतितो वा। तत्र स्वरूपनिगरणमतिशयोक्तौ। उत्प्रेक्षायां प्रतीतिनिगरणम्।" समुद्रबन्ध पृ० ५३

३. "अतश्चाध्यवसितप्राधान्यम्—" सर्वस्व पृ० ५४

गई है और एक कमल ही अवशिष्ट रह गया है। इस प्रकार यहां मुख की प्रतीति का ही नहीं उसके स्वरूप का भी निगरण हो गया है। अतः रुय्यक ने अतिशयोक्ति में स्वरूपनिगरण स्वीकार किया है।

जो सादृश्यविधान मुख तथा कमल के सादृश्य से आरम्भ हुआ था वह उनके ताद्रूप्य तथा मुख की निगरणप्रक्रिया में से होता हुआ उनके सर्वथा ऐक्य में समाप्त होता है और केवल कमल बच रहता है। अतः कवि की कल्पनाबुद्धि सादृश्य, ताद्रूप्य, निगरण—प्रक्रिया आदि विभिन्न अवस्थाओं में से होती हुई ऐक्य तक पहुँच जाती है। इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न अलङ्कारों की अभिव्यक्ति होती है। सादृश्यस्थिति में उपमा, उपमेयोपमा तथा अनन्वय की, ताद्रूप्यावस्था में रूपक, परिणाम, उल्लेख तथा अपह्नुति की, निगरणप्रक्रिया की अवस्था में उत्प्रेक्षा की तथा ऐक्यावस्था में अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओं के सादृश्य की ओर न होकर प्रधानतः उनके साधारणधर्म पर केन्द्रित रहती है। उसकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु वस्तुओं का सादृश्य न होकर उनके साधारणधर्मों का सादृश्य होता है। साधारणधर्मों की इस सादृश्य-प्रतीति में प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त की अभिव्यक्ति होती है।

प्रतिवस्तूपमा में जिन साधारणधर्मों में सादृश्यप्रतीति होती है वे वैसे तो एक होते हैं परन्तु आश्रयभेद के कारण उनमें भेद लक्षित होता है। इस प्रकार भेद तथा अभेद के फलस्वरूप इनमें सादृश्य प्रतीत होता है। दृष्टान्त में जिन साधारणधर्मों में सादृश्यप्रतीति होती है वे भिन्न होते हैं, परन्तु उनमें एक सामान्य तत्त्व होता है। इसके फलस्वरूप वे सदृश प्रतीत होते हैं।

प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों के इस सादृश्य की संज्ञा वस्तुप्रतिवस्तु-भाव रखी गई है। इनकी परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

"सम्बन्धिभेदेनैकस्यैव धर्मस्य द्विरुपादानम्" —चित्रमीमांसा पृष्ठ २१

"आश्रयभेदाद्भिन्नयोरपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभावः"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ २०९

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों में आश्रयभेद के कारण भेद लक्षित होता है। ये साधारणधर्म वस्तुत: एक भले ही हों, आश्रय का भेद इनके स्वरूपों में कुछ अन्तर अवश्य लाता है तथा हमें इसी रूप में इनकी प्रतीति होती है। पदार्थों के सादृश्य के समय हमारा प्रयोजन उनके इसी प्रतीत स्वरूप से होता है, अन्य किसी प्रकार के स्वरूप से नहीं होता। प्रतिवस्तूपमा के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यते नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५४

यहां वैदर्भी के समाकर्षण धर्म तथा चन्द्रिका के उत्तरलीकरण धर्म में सादृश्यप्रतीति होती है। समाकर्षणधर्म तथा उत्तरलीकरणधर्म वस्तुत: एक भले ही हों हमें उनकी प्रतीति विभिन्न रूपों में होती है। इसका कारण उनका आश्रयभेद है। समाकर्षण का यहाँ सम्बन्ध वैदर्भी तथा नैषध से है तथा उत्तरलीकरण का सम्बन्ध चन्द्रिका तथा समुद्र से है।

इन विभिन्न सम्बन्धों के फलस्वरूप समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। दो चेतन वस्तुओं से सम्बद्ध होने के कारण समाकर्षण का स्वरूप अचेतन वस्तुओं से सम्बद्ध उत्तरलीकरण से भिन्न प्रतीत होता है। अत: इन दोनों धर्मों में अभेद न मानकर सादृश्य मानना उचित होगा।

यदि समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण में सादृश्यप्रतीति न मानकर अभेदप्रतीति मानी जाती है तो साधारणधर्म की अनुगामिता तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव में कोई अन्तर नहीं होगा। प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव सर्वसम्मत है तथा वह साधारणधर्म की अनुगामिता से भिन्न माना गया है।

दूसरे यदि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों में अभेद माना जाता है तो हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु साधारणधर्म न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध हो जायगा। यह मानना उचित नहीं।

दृष्टान्त में साधारणधर्मों के सादृश्य की संज्ञा बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इसकी परिभाषा निम्नलिखित है:—

"वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव." —चित्रमीमांसा पृष्ठ २१

इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

"अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमला हि हरति दृशं मालतीमाला ।।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

यहां 'कर्णे मधुधारावमनम्' तथा 'नेत्रहरणम्' साधारणधर्म हैं। इन दोनों में प्रीतिजनकत्वधर्म विद्यमान है। अतः इनमें साम्य है। यह कहना कि दोनों का पर्यवसान प्रीति में होता है अतः दोनों में ऐक्य है उचित नहीं। दोनों के प्रीतिजनकत्व-प्रकार में भेद है तथा दोनों से उत्पन्न प्रीति में भी विलक्षणता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार श्रीरामचरणभट्टाचार्य ने इसका समर्थन किया है।[1]

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओं के एकधर्माभिसम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस अवस्था में दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तुल्ययोगिता की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।"—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५१

इस परिभाषा के अनुसार एकधर्माभिसम्बन्ध इस अलङ्कार का आधार है। इस अलङ्कार के निम्नलिखित उदाहरण पर यह बात चरितार्थ होती है—

"तदंगमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ।।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५२

यहां मालती आदि का एक कठोरताधर्म से सम्बन्ध दिखाया गया है। दीपक तथा सहोक्ति में भी यही बात होती है।

कभी कभी कवि प्रस्तुत वस्तु को अप्रस्तुत के सदृश व्यवहार करते देखता है। अप्रस्तुत वस्तु के साथ प्रस्तुत के सादृश्य पर उसका ध्यान

---

१. "प्रीतिजनन एव पर्यवसानादैकरूप्येऽपि प्रीतेर्वैलक्षण्याद्वैलक्षण्यमिति भावः"
—साहित्यदर्पण टीका पृष्ठ ५५५

केन्द्रित न होकर केवल उनके व्यवहारसादृश्य पर वह केन्द्रित रहता है और इसी व्यवहारसादृश्य के कारण उसे अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इस अवस्था में समासोक्ति अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है:—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्याः
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः ॥'

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६३

यहां वायु हठकामुक का आचरण करती हुई प्रतीत होती है। वायु के इस प्रकार के आचरण से हठकामुक की प्रतीति होती है।

कभी कभी प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के अत्यधिक व्यवहारसादृश्य के कारण कवि को प्रस्तुत में अप्रस्तुत के ही दर्शन होते हैं और वह उसी का वर्णन करता है। इस दशा में अप्रस्तुतप्रशंसालंकार की अभिव्यक्ति होती है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का यह वर्गीकरण कवि की चित्तवृत्तियों के आधार पर किया गया है। जो अलङ्कार जिस चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त होता है वह उससे सम्बद्ध है। भारतीय आलङ्कारिकों ने इनके वर्गीकरण में विशेषतः भाषा तथा उससे प्रभावित होने वाले सहृदय को आधार माना है। यद्यपि भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा कवि सहृदय को अपनी ही अनुभूति तक पहुँचाता है तथापि कवि की चित्तवृत्ति को आधार मानकर जो वर्गीकरण किया जायगा उसमें भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण से साधारण विलक्षणता आ जाना स्वाभाविक है। भाषा के प्रत्येक प्रयोग के लिए तत्सम्बद्ध कवि की चित्तवृत्ति ढूंढना सम्भव नहीं। अतः भाषा के आधार पर किए गए कतिपय भेदों की व्याख्या कवि की चित्तवृत्तियों के आधार पर सम्भव नहीं। दोनों की व्याख्याप्रणाली में भी साधारण अन्तर स्वाभाविक है। कवि की चित्तवृत्ति अथवा अनुभूति से उत्पन्न अभिव्यक्ति की प्रक्रिया तथा उस अभिव्यक्ति से उत्पन्न सहृदय की अनुभूति की प्रक्रिया में अन्तर है।

भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण में चमत्कार का हेतु अलंकारभेद का निर्णायक होता है। भाषा अपने से सम्बद्ध अर्थ के द्वारा सहृदय के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार ही अलंकार होता है। अत: इनका वर्गीकरण इनके चमत्कारहेतु के आधार पर ही सम्भव है। आलंकारिकों ने वर्गीकरण के इस आधार को स्वीकार किया है। अलंकारों की परिभाषा में उन्होंने चमत्कारी अथवा उसके पर्यायवाची सुन्दर, हृद्य आदि शब्दों का प्रायः प्रयोग किया है। एक उपमा की ही परिभाषा लें। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा।

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः—"

रसगंगाधर पृ० २०४

"हृद्यं साधर्म्यमुपमा" हेमचन्द्र—काव्यानुशासन १ । ६

"चमत्कारि साम्यमुपमा" वाग्भट—काव्यानुशासन पृ० ३३

"उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ।" चित्रमीमांसा पृ० ७

अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए जगन्नाथ लिखते हैं:—

"सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम्। चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदय-प्रमाणकः"—रसगंगाधर पृ० २०४

इस प्रकार जगन्नाथ ने सादृश्य को उपमा का चमत्कृत्याधायक अथवा उसके चमत्कार का हेतु कहकर चमत्कारहेतु को स्पष्टतः अलंकार का आधार स्वीकार किया है। अन्य आलंकारिकों के साथ भी यह बात है। जिन आलंकारिकों ने अलंकार की परिभाषाओं में इन शब्दों का सन्निवेश नहीं किया है, वे भी अलंकार के सामान्यलक्षण के नाते चमत्कार को वहां आवश्यक समझते हैं। आलंकारिकों के द्वारा किए हुए अलंकारों के वर्गीकरण की आलोचना इसी दृष्टिकोण से उचित है।

आलंकारिकों द्वारा किया हुआ सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्गीकरण तथा उसकी आलोचना

रुय्यककृत निरूपण का विवेचनः—

रुय्यक ने सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार उपमा इन अलंकारों के मूल में है।[1] उपमा को सादृश्य अथवा साधर्म्य कहा जा सकता है। रुय्यक के अनुसार साधर्म्य तीन प्रकार का होता है—भेदप्राधान्य, अभेदप्राधान्य तथा भेदाभेदतुल्यत्व।[2]

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण को रुय्यक ने भेदाभेद-तुल्यत्व के आश्रित माना है।[3] रुय्यक ने यहां स्मृति में आधार का विवेचन चेतनांश के रूप को पृथक् रखकर किया है। यहां चेतनांश का रूप स्मृति होता है। स्मृति ज्ञान का एक पृथक् भेद मानी गई है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में रूपसहित चेतनांश को लक्ष्य करके यदि स्मृति को स्मरणालंकार का आधार माना जाए तो अनुचित न होगा।

अभेदप्राधान्य के रुय्यक ने दो भेद किए हैं—आरोप तथा अध्यवसाय।[4] रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को उन्होंने आरोप पर आश्रित माना है।[5] इस प्रकार भ्रान्तिमान् तथा सन्देह अलंकार जिनमें चमत्कार क्रमशः सादृश्यमूलक भ्रान्ति तथा सन्देह पर आश्रित रहता है इसी भेद के अन्तर्गत कर दिए गए हैं।

---

१. "उपमैव प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता—" सर्वस्व पृ० २४

२. "साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः—भेदप्राधान्यं व्यतिरेकवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकवत् द्वयोस्तुल्यत्वं यथा उपमायाम्—" सर्वस्व पृ० २४

३. "तदेते सादृश्याश्रयणेन भेदाभेदतुल्यत्वेऽलङ्कारा निरूपिताः—" सर्वस्व पृ० ३१

४. "एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलंकारान् लक्षयित्वाध्यवसानगर्भांल्लक्षयति—" सर्वस्व पृ० ५३

५. देखिए सर्वस्व पृ० ३२—५३

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को उन्होंने अध्यवसाय पर आश्रित माना है। उनके अनुसार अध्यवसाय दो प्रकार का होता है—साध्य तथा सिद्ध।[1] उत्प्रेक्षा में यह साध्य होता है तथा अतिशयोक्ति में यह सिद्ध होता है।[2] यह मत उचित ही है।

व्यतिरेक तथा सहोक्ति को उन्होंने भेदप्राधान्य पर आश्रित माना है।[3] व्यतिरेक को तो भेदप्राधान्य पर आश्रित कहना ठीक ही है, परन्तु सहोक्ति को भी उसी पर आश्रित कहना उचित नहीं। सहोक्ति में चमत्कार का कारण भेदप्राधान्य न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। सहोक्ति में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सह अथवा उसके पर्यायवाची शब्द के द्वारा एक धर्म से सम्बन्ध दिखाया जाता है। निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।"—

काव्यप्रकाश सू० १७०

इसकी व्याख्या करते हुए वामनाचार्य लिखते हैं:—

"एवं च यत्र गुणप्रधानभावावच्छिन्नयोः शब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्तत्रायमलंकारः।" बालबोधिनी पृ० ६७१

इस प्रकार सहोक्ति में दो वस्तुओं का एकधर्म से सम्बन्ध तो निश्चित है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक और वस्तु वहां मानी गई है और वह यह है कि उस धर्म से एक वस्तु का सम्बन्ध तो प्रधानतः होता है तथा दूसरी का गौणतः। जिस शब्द के साथ सह जुड़ा हुआ होता है उसका सम्बन्ध गौणरूप से होता है तथा अन्य का प्रधान रूप से होता है। इसका कारण पाणिनि मुनि का 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[4] सूत्र है। वामनाचार्य का भी यही मत है:—

१. "स च द्विविधः—साध्यः सिद्धश्च।" सर्वस्व पृ० ५३

१. "एवमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षां निर्णीय सिद्धत्वेऽतिशयोक्तिं लक्षयति।" सर्वस्व पृ० ६६

३. "भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः—"

सर्वस्व सू० २८

'भेदप्राधान्य इत्येव।' सर्वस्व पृ० ८५

४. पाणिनि २। ३। १९

"यत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति पाणिनिसूत्रेण विहिता सहार्थयोगेऽप्रधाने तृतीया तत्रैवायमलंकारः, गुणप्रधानभावावच्छिन्नयोः शाब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्य तत्रैवावस्थितिरिति।"—बालबोधिनी पृ० ६७२

अब प्रश्न यह उठता है कि यहां चमत्कार का कारण दो वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध है अथवा उनमें से एक का प्रधानतः तथा अन्य का गौणतः उस धर्म से सम्बद्ध होना चमत्कार का हेतु है। इसका यही उत्तर हो सकता है कि चमत्कार का प्रमुख कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध ही है। उनमें से एक का प्रधानतः तथा अन्य का गौणतः उस धर्म से सम्बद्ध होना केवल गौण है तथा प्रधान चमत्कार का उपकारक है। निम्नलिखित उक्ति इसी ओर संकेत करती है।

"यदि तु दीपके तुल्ययोगितायां चोपमानोपमेययोः प्राधान्येन क्रियादिरूपधर्मान्वयः, इह तु गुणप्रधानभावेनैवेति विशेषः सन्नपि विच्छित्तिविशेषानाधायकतया नालंकारताप्रयोजकः, अपितु तदवान्तरभेदताया इति विभाव्यते, निरस्यते च प्राचीनमुखदाक्षिण्यम् तदा निविशतामियमप्यलंकारान्तरेष्वेव, किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारभेदे वचनभंगीनामानन्त्यादलंकारानन्त्यप्रसंगादिति।"—रसगंगाधर पृ० ४८७, ४८८

इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि सहोक्ति में उपमान तथा उपमेय का धर्म के साथ सम्बन्ध गुणप्रधानभाव से युक्त भले ही हो गुणप्रधानभाव अलंकारता का प्रयोजक नहीं। प्रधानता एकधर्माभिसम्बन्ध की ही है। वही चमत्कार का कारण है। अतः अलंकार का मूल है। उपमानोपमेय का धर्म से गुणप्रधानभाव से सम्बन्ध अवान्तर भेद का प्रयोजक कहा जा सकता है। एकधर्माभिसम्बन्ध तुल्ययोगिता तथा दीपक में भी होता है।[1] अतः सहोक्ति को उन्हीं का एक भेद कहना उचित होगा।

---

१. "पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" साहित्यदर्पण १०। ४७

"अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते—"—साहित्यदर्पण १०। ४८

ये परिभाषाएं यह सिद्ध करती हैं कि तुल्ययोगिता तथा दीपक में एकधर्माभिसम्बन्ध होता है।

उद्भट ने एक अन्य आधार पर सहोक्ति को दीपक से पृथक् सिद्ध करने का यत्न किया है। इनके अनुसार दीपक में दो वस्तुओं से सम्बद्ध एक शब्द से द्योतित जो दो क्रियाएं होती हैं वे समकालीन नहीं होतीं। सहोक्ति में इसके विपरीत वे समकालीन होती हैं—

"ननु......संजहार शरत्कालः—इत्यादावपि पदेनैकेन वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये कथ्येते अतश्च तत्रापि सहोक्तित्वं प्राप्नोतीत्याशंक्योक्तम्—तुल्यकाले इति।" काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ७२

उद्भट का यह मत पूर्णतः सत्य नहीं। यह ठीक है कि सहोक्ति में एक शब्द से द्योतित विभिन्न वस्तुओं की क्रियाएं समकालीन होती हैं, परन्तु दीपक में वे सदैव असमकालीन हों ऐसी बात नहीं। 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते'[1] दीपक की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार दीपक के लिए केवल इतना आवश्यक है कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध होना चाहिए। यह धर्म यदि क्रिया है तो केवल इतना आवश्यक है कि इन वस्तुओं का इस क्रिया से सम्बन्ध हो। इन वस्तुओं के इस क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण इन वस्तुओं की जो विभिन्न क्रियाएं होंगी उनके लिए असमकालीन होना आवश्यक नहीं। वे समकालीन तथा असमकालीन में से कोई भी हो सकती हैं।

दूसरे यदि दीपक में क्रियाओं के लिए असमकालीन होना आवश्यक मान लिया जाए तो भी सहोक्ति से उसका यह भेद दोनों के पृथक् अलंकार होने का आधार नहीं हो सकता।

दीपक में चमत्कार का कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। विभिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध इन धर्मों का समकालीन अथवा असमकालीन होना चमत्कार का कारण नहीं होता। सहोक्ति में भी चमत्कार का कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध ही होता है। इस प्रकार चमत्कारहेतुओं के समान होने के कारण दीपक तथा सहोक्ति को एक अलंकार के अन्तर्गत मानना उचित होगा। दूसरे वस्तुओं से सम्बद्ध एक धर्म सदा क्रिया ही हो ऐसी बात नहीं। यह क्रिया के अतिरिक्त गुण आदि भी हो सकता है। जहां धर्म क्रिया होगा वहां तो क्रियाओं के

---

१. साहित्यदर्पण १०।४८